ISSN : 2320-7604
RNI NO. : DELHIN/2008/27588
Listed in UGC Care journal
October, 21, Part 1, Serial.No. 143

त्रैमासिक

# बहुरि नहिं आवना

अंक-20
जुलाई 2022 - सितंबर, 2022
मूल्य : 20 रुपए

आजीवक महासंघ ट्रस्ट द्वारा निर्गत

*संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्य*

# अनुक्रम


| | | |
|---|---|---|
| *संपादकीय : काश वे भी खुश-किस्मत होते* | *–प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'* | 3 |
| असाध्य वीणा और भारतीय चिंतन | *–डा. सतोष कुमार* | 5 |
| बिहार का एक समृद्ध सांस्कृतिक क्षेत्र–तरियानी | *–डा. हेमंत कुमार हिमांशु* | 14 |
| सद्गुरु रैदास के चिंतन की प्रासंगिकता | *–रमेश कुमार* | 19 |
| आदिवासी कविता के समक्ष चुनौतियाँ | *–मोनिका मीणा, प्रो. चंद्रशेखर* | 23 |
| वंचितों की यह चिंता निराधार तो नहीं... | *–रश्मि नरताम* | 27 |
| काव्य यात्रा का विकास और गोपालदास नीरज की जनवादी चेतना | *–ब्रजेश उपाध्याय* | 31 |
| 'त्यागपत्र' उपन्यास में सामाजिक शोषण और नारी | *–प्रो. चन्द्रशेखर* | 35 |
| सांस्कृतिक मूल्यबोध और भक्ति आंदोलन | *–डा. कुमार भास्कर* | 39 |
| स्त्री-संघर्ष का समकालीन इतिहास | *–डा. रेखा सिंह* | 43 |
| दलित साहित्य आन्दोलन और अनुवाद की भूमिका | *–निरंजन राव* | 46 |
| अन्तर्विरोध के पुंज भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | *–डा. मेवालाल यादव* | 50 |
| 'धार' उपन्यास में जल, जंगल और जमीन के मुद्दे | *–त्रिनेत्र तिवारी* | 54 |
| जयनंदन की कहानियों में बाल मनोविज्ञान | *–सरिता कुमारी* | 57 |
| कहानी संग्रह–'मोर का पंख' | *–डा. पूनम यादव* | 61 |
| जयशंकर प्रसाद के गीतों में वेदना | *–डा. कादम्बिनी मिश्रा* | 64 |
| विकलांग विमर्श एवं हिंदी महिला-कथाकार | *–डा. अपराजिता जॉय नंदी* | 68 |
| रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविताओं में कृषक-जीवन | *–डा. मृत्युंजय कोईरी* | 71 |
| जाति का प्रश्न और 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' | *–डा. विजय पाल* | 74 |
| दलित कहानियों में अस्पृश्यता | *–उपदीप कौर* | 77 |
| भारतीय साहित्य परम्परा और अनुवाद | *–कुमार रितेश रंजन* | 80 |
| कविताएं | *–प्रो. सुजीत कुमार* | 83 |

# अनुक्रम


| | | |
|---|---|---|
| *संपादकीय : काश वे भी खुश-किस्मत होते* | *–प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'* | 3 |
| असाध्य वीणा और भारतीय चिंतन | *–डा. सतोष कुमार* | 5 |
| बिहार का एक समृद्ध सांस्कृतिक क्षेत्र–तरियानी | *–डा. हेमंत कुमार हिमांशु* | 14 |
| सद्गुरु रैदास के चिंतन की प्रासंगिकता | *–रमेश कुमार* | 19 |
| आदिवासी कविता के समक्ष चुनौतियाँ | *–मोनिका मीणा, प्रो. चंद्रशेखर* | 23 |
| वंचितों की यह चिंता निराधार तो नहीं... | *–रश्मि नरताम* | 27 |
| काव्ययात्रा का विकास और गोपालदास नीरज की जनवादी चेतना | *–ब्रजेश उपाध्याय* | 31 |
| 'त्यागपत्र' उपन्यास में सामाजिक शोषण और नारी | *–प्रो. चन्द्रशेखर* | 35 |
| सांस्कृतिक मूल्यबोध और भक्ति आंदोलन | *–डा. कुमार भास्कर* | 39 |
| स्त्री-संघर्ष का समकालीन इतिहास | *–डा. रेखा सिंह* | 43 |
| दलित साहित्य आन्दोलन और अनुवाद की भूमिका | *–निरंजन राव* | 46 |
| अन्तर्विरोध के पुंज भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | *–डा. मेवालाल यादव* | 50 |
| 'धार' उपन्यास में जल, जंगल और जमीन के मुद्दे | *–त्रिनेत्र तिवारी* | 54 |
| जयनंदन की कहानियों में बाल मनोविज्ञान | *–सरिता कुमारी* | 57 |
| कहानी संग्रह–'मोर का पंख' | *–डा. पूनम यादव* | 61 |
| जयशंकर प्रसाद के गीतों में वेदना | *–डा. कादम्बिनी मिश्रा* | 64 |
| विकलांग विमर्श एवं हिंदी महिला-कथाकार | *–डा. अपराजिता जॉय नंदी* | 68 |
| रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविताओं में कृषक-जीवन | *–डा. मृत्युंजय कोईरी* | 71 |
| जाति का प्रश्न और 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' | *–डा. विजय पाल* | 74 |
| दलित कहानियों में अस्पृश्यता | *–उपदीप कौर* | 77 |
| भारतीय साहित्य परम्परा और अनुवाद | *–कुमार रितेश रंजन* | 80 |
| कविताएं | *–प्रो. सुजीत कुमार* | 83 |

# संपादकीय

## *काश वे भी खुश-किस्मत होते*

चौदह-पन्द्रह अगस्त, 1947 की आधी रात को देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था, 'जब तक जनता की आँखों में एक भी आँसू की बूंद होगी हमारा काम पूरा नहीं होगा।' दुर्भाग्य से, आज 75 साल बाद भी हाशिए के लोगों में आँसुओं का सबब मौजूद है। अस्पृश्यता विषयक अनेक घटनाएं देश के विभिन्न भागों में घटित हो रही हैं। सब से शर्मनांक और असंवेदनशील है राजस्थान के जालौर जिले के सुराना गांव स्थित 'सरस्वती विद्या मंदिर' में कक्षा तीन के छात्र इन्द्र मेघवाल की मृत्यु। उस की गुस्ताखी यह थी कि उस ने कथित ऊंची जाति के छैल सिंह शिक्षक के पीने के पानी के बर्तन यानि मटके को छू लिया था। संविधान के अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता समाप्त कर दी गयी है। लेकिन यह बात छैल सिंह जैसे शिक्षकों को अंगीकार नहीं है। तो सवाल है, अशिक्षित और असभ्य लोगों को कैसे स्वीकार्य होगी?

नौ साल के छात्र इन्द्र मेघवाल के चेहरे, कान और आँख पर ऐसी गम्भीर चोटें आयीं थी कि डाक्टर उस बच्चे को बचा नहीं सके। कितने शर्म की बात है कि क्रूरता की यह घटना एक शिक्षक के द्वारा अंजाम दी गयी है! शिक्षक जो ज्ञान, शांति, प्रेम, अहिंसा और उदारता का पाठ पढ़ातें हैं, उन के द्वारा ऐसा किया गया है। शिक्षक जो देश भक्ति की शिक्षा देते हैं, उन के द्वारा ऐसा किया गया है, विश्वास नहीं होता। ऐसे शिक्षकों के रहते कथित रूप से अस्पृश्य समझे जाने वाले छात्र कैसे कहें कि वे भी स्वतंत्र भारत में जन्मे हैं। इसलिए खुशकिस्मत हैं। चिंता जनक बात यह है कि अधिकांश ऐसी घटनाओं के केन्द्र में अध्यापक होते हैं। इस का मतलब हमारी शिक्षा व्यवस्था लोकतांत्रिक मूल्यों का संरक्षण नहीं करती। अध्यापकों की मानसिकता का निर्माण किन विचारों-व्यवहारों और किन पुस्तकों के पठन-पाठन से होता है!

इन्द्र मेघवाल की मौत सामाजिक व्यवस्था के गम्भीर बीमार होने का संकेत देती है। स्वतंत्रता के 75 साल उत्सव के समय ऐसे दर्दनाक दृश्य उपस्थित हो रहे हैं। इस से यह साबित होता है कि राष्ट्र निर्माताओं ने नये भारत के निर्माण के लिए जो संकल्प लिए थे उन पर कोई अमल नहीं हुआ है। दलित बच्चे आजाद भारत में पैदा हो कर भी खुशकिस्मत नहीं हैं। अध्यापकों में जातीय घृणा अशिक्षितों की अपेक्षा अधिक क्यों पायी जाती है? ओमप्रकाश वाल्मीकि का जन्म आजाद भारत में हुआ था। लेकिन जब वे स्कूल गये तो पाँच साल की उम्र में अध्यापक ने अपनी छड़ी की मार से उन की पीठ

पर महाभारत लिख दिया था। इसी तरह, बालक धर्मवीर के हाथ से अध्यापक ने सितार छीन लिया था कि अछूत हो कर वह सितार का रियाज करेगा।

आज कितनी ही ऐसी घटनाएं हैं जिन की रिपोर्ट लिखाने का साहस दलित नहीं कर पाते। करते हैं तो पुलिस रिपोर्ट लिखती नहीं है। इन्द्र मेघवाल के केस में भी रिपोर्ट लिखाने के लिए एक सामाजिक कार्यकर्ता को काफी मेहनत करनी पड़ी थी। यह घटना कोई अपवाद नहीं है। दुर्भाग्य से, हर प्रदेश और हर जनपद में दलित उत्पीड़न की घटनाएं घटित हो रही हैं। खबरें विरोधाभासी आ रही हैं। मटका या अस्पृश्यता का प्रश्न ही नहीं माना जा रहा। तब क्या बच्चे को यूं ही मारा गया। वैसे तो, अध्यापकों को बच्चों को शारीरिक प्रताड़ना देने का अधिकार नहीं है। तो ऐसा कहते हुए क्या केस को हल्का बनाने और अनुच्छेद 17 को लागू न होने देने का प्रयास है? पर क्या बच्चे को चोट नहीं लगी, क्या बच्चे की जान नहीं चली गयी और क्या बच्चे ने स्वयं ही स्वयं को मारा था?

आँकड़े बताते हैं कि विगत तीन वर्षों में दलितों पर अत्याचार के 20839 प्रकरण दर्ज हुए हैं। ये अस्पृश्यता के उदाहरण नहीं तो क्या हैं? राजस्थान में 81 फीसद मामले ऐसे सही पाए गए हैं जिन में दलित दूल्हों को घोड़ी से उतारा गया है। मध्य प्रदेश के दस जिलों के अध्ययन रिपोर्ट में बताया गया है कि 92 फीसदी दलित बच्चे स्कूल में पानी नहीं पी सकते। कल्पना कीजिए, एक तो बच्चों को स्कूल के माहौल में ढालने में माता-पिता को बड़ी कठिनाइयाँ पेश आती हैं और दूसरी तरफ अगर स्कूल को बच्चों के लिए जेल खाना जैसा बना दिया जाए तो वह पढ़ाई की ओर कैस प्रवृत्त होगा? लोग जानते हैं कि अनुसूचित जाति और जनजाति अत्याचार निवारण कानून 1989 कारगर रहा है, परन्तु समाज आज भी अपने भेदभाव के वर्ण-कानून से ही चल रहा है। स्वतंत्र भारत का समता मूलक संविधान शिक्षकों के लिए पाठ्यक्रम का हिस्सा ही नहीं है।

एक हमला हजार हमलों की सूचना देता है। समाज में अनुदार व्यवहार अभी भी प्रचलन में है। इस से सामाजिक सौहार्द का स्वास्थ ठीक नहीं रह सकता। इन्हीं दिनों बुलन्द शहर, उत्तर प्रदेश से एक घायल छात्र की तस्वीर सामने आयी है। प्रयोगात्मक परीक्षा के दौरान शिक्षक ने छात्र को अपमान बोधक जाति सूचक शब्दों से नवाजा और फिर उस के सिर पर वार कर दिया। छतारी थाने में आरोपी अध्यापक के खिलाफ शिकायता दर्ज करायी गयी है। यह कितनी दुख की बात है कि हम अनुसूचित जातियों के बच्चे आजाद भारत में पैदा हुए हैं और खुशनसीब नहीं हैं। गांधी जी पूना पैक्ट करते हुए और गोलमेज सम्मेलन में कैसे छुआछूत रहित समाज निर्माण की आश्वस्ती प्रकट कर रहे थे और डा. अम्बेडकर स्वराज को क्यों दलितों पर गैर दलितों का राज कायम हाने की आशंका व्यक्त कर रहे थे? क्या कोई देखेगा इतिहास के उस कालखंड की बहस में झाँक कर। कौन सही था और कौन गलत—यहाँ देखा जा सकता है। सरकारों और संस्थाओं को मानवीय होने की ओर अग्रसर होने की जरूरत है। देश को अपनी कुर्बानियाँ और तरह-तरह के त्याग दे कर आजाद कराने वालों के सपनों के भारत में किसी छात्र को अस्पृश्य बता कर हत्या करना नहीं हैं।

**प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'**
(प्रधान संपादक)

# *असाध्य वीणा और भारतीय चिंतन*

*–डा. संतोष कुमार*

कविता और अध्यात्म का रिश्ता बहुत पुराना है। आधुनिकता और आधुनिकतावाद के आगमन के साथ ही हिंदी कविता से अध्यात्म की विदाई हो गयी। यथार्थवाद के आग्रह ने कविता के परिसर में व्यक्ति के राजनीतिक-सामाजिक और मनोवैज्ञानिक द्वंद्व तथा संघर्ष को तो जगह दी लेकिन इस के साथ ही रहस्य, अध्यात्म और इहलौकिकता के अतिक्रमण की आकांक्षा जैसे काव्य आशयों को मध्यकालीन मान कर और मनुष्य की प्रगति में बाधक समझ कर काव्य निकाला दे दिया। कविता के परिसर में यथार्थवाद के आगमन ने मनुष्य को नये ढंग से परिभाषित किया, उसे संसार और समाज की भौतिक वास्तविकता से गहराई से परिचित कराया और इस के परिणामस्वरुप कविता की संवेदना के विकास और विस्तार की नयी दिशाएं खुलीं। नयी संवेदना ने नयी भाषा और शैली का विकास भी किया। लेकिन यथार्थवादी आग्रह के कारण संसार की भौतिक वास्तविकता ही कविता की हदबंदी भी बन गयी। हिंदी कविता राजनीतिक-सामाजिक और मनोवैज्ञानिक वास्तविकता के रेशे-रेशे से हमारा परिचय तो कराती रही लेकिन वह इस दायरे के पार जाने से कतराने लगी। इस तरह कविता में निहित मानवीयता भी भौतिकता तथा राजनीतिक-सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आशयों तक ही सीमित हो कर रह गयी। हमारी कविता में हजारों वर्षों से चली आ रही आत्म संसार की भावना और मानवीय सीमाओं के पार झाँकने की सहज मानवीय आकांक्षा पर यथार्थवादी आग्रह ने भौतिकता और इह्लौकिकता की पहरेदारी लगा दी। आधुनिकतावाद के प्रभावस्वरूप चले नयी कविता आन्दोलन से हिंदी कविता में बौद्धिकता का आयाम तो जुड़ा लेकिन आध्यात्मिकता का लोप हो गया। अज्ञेय जैसे कुछेक कवियों ने नयी कविता की इन सीमाओं को समझा और कविता को पुनः भौतिकता और इह्लौकिकता की हदबंदी से मुक्त करने का प्रयत्न किया. उस दौर की हिंदी आलोचना ने इस प्रयास का कुपाठ किया और अज्ञेय को नव रहस्यवादी कह कर लांछित किया। बाद में हिंदी के एक कवि आलोचक ने नयी कविता की इस कमजोरी को रेखांकित किया। अशोक वाजपेयी अपनी बहुचर्चित आलोचना पुस्तक फिलहाल में इस बात की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं, ''पर इस के साथ ही इस से इनकार करना कठिन होगा कि जहाँ भाषा में शहराती संवेदना विकसित हुई है, उस की धार्मिक संवेदना क्षीण होती चली गयी है। हमारी भाषा में नागरिक आया तो ईश्वर बाहर

चला गया है। फलतः काव्य ने जीवन के चरम प्रश्नों का गहराई और विकलता से सामना करना और समाधान खोजना छोड़ दिया है। धर्म हमारे यहाँ अजब भोलेपन से आधुनिक चीज मान ली गयी है. वह हमारे काव्य के लिए अप्रासांगिक हो गया है.'' (वाजपेयी, 1970, पृ. 172) अशोक जी तत्कालीन काव्य परिदृश्य पर बिल्कुल सही टिप्पणी कर रहे हैं. आलोचना में व्यक्त हो रही यह चिंता उन की कविता को भी नयी राह दिखाती है. अपनी इसी चिंता के कारण अशोक अपनी कविता में धार्मिक आध्यात्मिक संवेदना का पुनर्वास करने की भरपूर कोशिश करते हैं। उन्हीं की तरह रमेश चन्द शाह भी हिंदी कविता के इस दुर्भाग्य पर चिंता जताते हुए कहते हैं, ''भारतीय कविता का, बल्कि कहा जाए, हिंदी कविता का यह दुर्भाग्य है कि उस ने अपने शक्ति स्रोत से, पावनतामूलक विश्व दृष्टि की सब से गहरी पाठशाला से खुद ही अपना नाता तोड़ लिया है। (शाह, 1998 , पृ. 148) दोनों ही आलोचकों ने हिंदी की नयी कविता और उस के बाद की कविता के इस दुर्भाग्य की ओर ठीक ध्यान दिलाया है। लेकिन दोनों ही आलोचक इस दुर्भाग्य के कारणों की व्याख्या नहीं करते। कविता की यह कमजोरी सिर्फ प्रवृत्तिगत नहीं है। यह कमजोरी गहरे अर्थों में सांस्कृतिक और सभ्यतागत है और आधुनिकता के साथ आए पश्चिम के सांस्कृतिक वर्चस्व का परिणाम है। संस्कृति कर्मियों का यह दायित्व था कि राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ बौद्धिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए भी प्रयत्न करते। अज्ञेय उन विरले संस्कृति कर्मियों में से एक हैं जो पश्चिम के सांस्कृतिक वर्चस्व से जुड़े खतरे के बारे में सचेत थे। 1957 में जापान और दक्षिण पूर्व एशिया की अपनी यात्रा के दौरान वे पश्चिम के सांस्कृतिक वर्चस्व के दुष्परिणाम को देख चुके थे। विद्यानिवास मिश्र अज्ञेय की इस यात्रा के बारे में बतलाते हैं, ''पश्चिम के साँचे को मनवाने का दुराग्रह सांस्कृतिक स्तर पर किस प्रकार विनाशकारी हो सकता है, इस का तीखा अनुभव लेखक को दक्षिण पूर्व एशिया का हुआ।'' (मिश्र व शाह, अज्ञेय काव्य स्तबक, 1995, पृ. 32) अज्ञेय की जापान यात्र के बारे में बताते हुए वे आगे कहते हैं, ''जापान की जिस विशेषता ने इन्हें सब से अधिक प्रभावित किया, वह यह है कि जापान तकनीकी प्रगति में पूर्ण रूप से अपने को ढालते हुए भी सांस्कृतिक मूल्यों का निर्वाह कर सकता है, पश्चिम की पोशाक धारण करते हुए भी अपने भीतर की संवेदनशीलता को बनाए रख सकता है, इसलिए आधुनिकता के लिए परंपरा से कटना न तो जरूरी ही है न काम्य ही।'' (मिश्र व शाह, अज्ञेय काव्य स्तबक, 1995, पृ. 32) इसी बोध का परिणाम था कि अज्ञेय ने परंपरा से कटी हुयी आधुनिकता (भारतीय सन्दर्भ में) को पुनः परंपरा से जोड़ने का प्रयत्न किया। अज्ञेय ने यह प्रयत्न रचनात्मक और चिन्तनात्मक दोनों ही स्तरों पर किया। इस की पुष्टि के लिए उन के कथा साहित्य और निबंधों को देखा जा सकता है। इसी चिंता का परिणाम था कि उन्होंने टी. एस. इलियट के निबंध का छायानुवाद 'रूढ़ी और मौलिकता' शीर्षक से किया और आधुनिकता को परंपरा के सन्दर्भ में परिभाषित करने का यत्न किया। यह चिंता उन की कविताओं में भी व्यक्त हुई है। असाध्य वीणा शीर्षक लम्बी कविता भी उन की इसी चिंता का परिणाम है। इस सन्दर्भ में हिंदी आलोचना असाध्य वीणा के महत्त्व को रेखांकित करने में विफल रही है। असाध्य वीणा उन कुछेक कविताओं में है जिन पर आलोचकों ने खूब लिखा है। इस कविता के आलोचकों और टीकाकारों ने जापान की जेन साधना पद्धति से इस कविता का सम्बन्ध जोड़ा है। लेकिन ये आलोचक और टीकाकार यह नहीं बतलाते कि जेन साधना पद्धति क्या है और इस कविता में ऐसा क्या है जिसे जेन साधना का प्रभाव कहा जा सकता है। इस आलेख में असाध्य वीणा को जेन साधना पद्धति के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया जायेगा। जेन साधना का भारतीय दर्शन प्रणाली से बहुत गहरा संबंध है। अज्ञेय ने अपनी इस कविता में जेन साधना पद्धति के माध्यम से भारतीय संस्कृति के स्वत्व की तलाश की है।

जेन साधना पद्धति ध्यान करने की एक विधि है। ध्यान की इस पद्धति की खोज बौद्ध साधकों ने की थी। इस के दार्शनिक आधार की निर्मिति प्रसिद्ध बौदध दार्शनिक नागार्जुन ने की थी। अचला वर्मा ने लिखा है, ''जेन ध्यान पद्धति का दार्शनिक आधार नागार्जुन का शून्यवाद है''(जेन बुद्धिज़्म फिलोसोफी एंड मिस्तिसिज्म. पृ. 23). पहले जेन सिर्फ ध्यान लगाने का एक तरीका भर था जिस का दार्शनिक आधार शून्यवाद था। जेन ध्यान पद्धति से सम्बंधित शास्त्र बाद में रचे गए। एक जमाने में कश्मीर और तिब्बत में बौद्ध धर्म की महायान शाखा का व्यापक प्रभाव था। वहाँ से महायान का प्रभाव चीन गया और चीन से जापान। यह जेन पद्धति भी चीन से होते हुए जापान तक गयी थी। जेन ध्यान शब्द का ही दूसरा नाम है।

चीन और जापान के दार्शनिकों और कलाकारों के बीच साधना की यह पद्धति बहुत लोकप्रिय थी। इस की लोकप्रियता का एक कारण तो यह था कि यह ध्यान पद्धति कलाकारों को मानसिक एकाग्रता प्राप्त करने में

सहायता करती थी और इस तरह उत्कृष्ट कला की रचना का मार्ग प्रशस्त करती थी। इस की लोकप्रियता का दूसरा कारण यह था कि कला की रचना के लिए आवश्यक मानसिक अर्हता को प्राप्त करने और कलाकार के मानसिक संवेगों को समझने और नियंत्रित करने में यह बहुत सहायक थी। लेकिन जेन साधना पद्धति के महत्त्व का प्रतिपादन करने से बेहतर है कि असाध्य वीणा शीर्षक को इस के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया जाए।

असाध्य वीणा की शुरुआत में राजा अपने दरबार में प्रियंवद केश कम्बली को वीणा के अतीत के बारे में बतलाते हुए कहता है कि यह वीणा वज्रकीर्ति जैसे साधक के जीवन भर की साधना का परिणाम है। इस का रहस्य यह है कि अभी तक कोई भी वादक इस अभिमंत्रित वीणा को बजा नहीं पाया है। इसलिए यह असाध्य वीणा के नाम से ही ख्यात हो गयी है। वह प्रियंवद केश कम्बली से वीणा बजाने का निवेदन करता है। केश कम्बली संगीतकार नहीं है। वह तो गुफा गेहवासी है और अध्यात्म का साधक है। फिर भी राजा उस को वीणा बजाने के लिए बुलाता है। इस तरह शुरुआत में ही कविता अध्यात्म और कला के आपसी सम्बन्ध की ओर इशारा कर देती है।

केश कम्बली वीणा वादन शुरू करने से पहले ध्यान करता है। वह अपने ध्यान का केंद्र वीणा को ही बनाता है। ध्यान में जाते हुए वह सब से पहले वीणा की महत्ता को स्वीकार करता है और वीणा के सामने अपनी अकिंचनता को प्रकट करता है :

*पर उस स्पंदित सन्नाटे में*
*मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा*
*नहीं, स्वयं अपने को शोध रहा था।*
*सघन निविड़ में वह अपने को*
*सौंप रहा था उसी किरीटी-तरु को।*
*कौन प्रियंवद है कि दंभ कर*
*इस अभिमंत्रित कारु वाद्य के सम्मुख आवे?*
*कौन बजावे*
*यह वीणा जो स्वयं एक जीवन भर की साधना रही?*

(**अज्ञेय काव्य स्तबक**, पृ. 93)

वीणा के सामने केश कम्बली का समर्पण विनम्रता का प्रदर्शन नहीं है। यह ध्यान में जाने का प्रारंभिक चरण है जहाँ वह अपने मानस को भूतकाल की स्मृतियों और भविष्य काल की आकांक्षाओं से खाली करता है। वह बहुत ही गहनता से बार-बार यह प्रयत्न करता है कि उस का मन हर प्रकार के विचारों और पूर्वग्रहों से मुक्त हो जाए। अतीत की स्मृतियों और भविष्य की योजनाओं और आकांक्षाओं से मुक्त हो कर ही वह वर्तमान पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है। ध्यान में जाने की यह पद्धति जेन ध्यान साधना का प्रारंभिक चरण है जहाँ साधक का लक्ष्य "अपने मन को विचारों और भावनाओं से मुक्त करना होता है" (जेन बुद्धिज्म फिलोस्फी एंड मिस्टिसिज्म, 1922, पृ. 24)

ध्यान करने वाला साधक जानता है कि पहले से व्याप्त विचारों, भावनाओं, स्मृतियों और संवेदनाओं आदि से मुक्त हुए बिना अपने मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता। बार-बार प्रयत्न करने पर इस जेन ध्यान पद्धति में एक समय ऐसा भी आता है जब साधक का मन विचारों और संवेदनाओं से रहित हो जाता है और उस के मन में नये विचार आने बंद हो जाते हैं। ध्यान के इस चरण में साधक कुछ भी सोचना बंद कर देता है और अपने मन पर उस का पूरा नियंत्रण होता है। जेन साधना पद्धति का यह दूसरा चरण है। इस दूसरे चरण पर पहुंच कर साधक अपने मन को अपनी इच्छा के अनुरूप जहाँ चाहे ले जा सकता है। वह जहाँ चाहे और जिस विषय पर चाहे अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर सकता है। उस का मन पूरी तरह से उस के नियंत्रण में होता है। अपेक्षित वस्तु या विचार पर अपना ध्यान केन्द्रित करने के साथ ही जेन ध्यान पद्धति का तीसरा चरण शुरू हो जाता है। इस चरण में साधक अपेक्षित वस्तु से आगे ले जा कर अपने मन को सम्पूर्ण प्रकृति पर एकाग्र करने की कोशिश करता है।

असाध्य वीणा में केश कम्बली अपने मन को पूरी तरह से नियंत्रित करने के पश्चात अपना सारा ध्यान वीणा पर लगाता है। कविता में पहला और तीसरा चरण साथ-साथ चलते हैं। इस का कारण यह है कि व्यावहारिक रूप से दूसरा चरण संभव नहीं है, क्योंकि चेतन मन की ऐसी कोई अवस्था नहीं होती है जब वह पूरी तरह से शून्य हो। शून्य की अनुभूति इन्द्रियातीत अवस्था है जो अंतिम चरण में संभव होती है। इसीलिए अपने मन को विचारों और संवेगों से खाली करने और वीणा पर ध्यान लगाने की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है।

जेन साधना के तीसरे चरण में साधक समय का अतिक्रमण करता है। वह अपेक्षित वस्तु पर ध्यान लगाते हुए उस वस्तु के वर्तमान और अतीत को जानने का प्रयत्न करता है। वह वस्तु के अतीत को जानते-समझते हुए समूची प्रकृति से उस वस्तु के संबंध को जान जाता है और उस समूची प्रकृति पर अपना ध्यान केन्द्रित करने लगता है। समूची प्रकृति को एक इकाई के रूप में देखने लगता

है। जेन साधना की इस प्रक्रिया को समझाते हुए आर्थर वाले ने लिखा है, ''जेन के द्वारा हम समय का अतिक्रमण करते हैं और ब्रह्मांड को छोटे-छोटे टुकड़ों में न देख कर एक इकाई के रूप में देखने लगते हैं।" (जेन बुद्धिजूम एंड इट्स रिलेशन टू आर्ट, 1922, पृ. 22)

असाध्य वीणा में भी केश कम्बली सिर्फ वीणा पर ही ध्यान नहीं लगाता है बल्कि वह तो समय का अतिक्रमण करते हुए उस के अतीत में पहुंच जाता है और उस विशाल किरीटी तरु को याद करने लगता है जिस की शाखा से वीणा का निर्माण हुआ था। ऐसा करते हुए वह अपने मन को अन्य विचारों व भावनाओं से रहित भी करता जाता है। पूरी कविता में वीणा के प्रति समर्पण करने (प्रथम चरण) और वीणा तथा किरीटी तरु पर ध्यान लगाने की प्रक्रिया (तीसरा चरण) साथ-साथ चलती है।

*नहीं, नहीं। वीणा यह मेरी गोद में रखी है, रहे,*
*किन्तु मैं ही तो*
*तेरी गोदी बैठा मोद-भरा बालक हूं,*
*ओ तरु-तात! संभाल मुझे,*
*मेरी हर किलक*
*पुलक में डूब जाए:*
*मैं सुनूं, गुनूं, विस्मय से भर आँकें*
*तेरे अनुभव का एक-एक अंतस्वर*
*तेरे दोलन की लोरी पर झूमूं मैं तन्मय–*
*गा तू:*
*तेरी लय पर मेरी साँसें*
*भरें, पुरें, रीतें, विश्रांति पायें।*
*गा तू!*
*यह वीणा रखी है: तेरा अंग-अपंग!*
*किन्तु अंगी, तू अक्षत, आत्म-भरित,*
*रस-विद, तू गा :*
*मेरे अंधियारे अंतस में आलोक जगा*
*स्मृति का*
*श्रुति का*

(**अज्ञेय काव्य स्तबक**, पृ. 95 )

केश कम्बली एक तरफ तो अपने मन को विचारों और भावनाओं से रिक्त करता है। अर्थात, अपने-आप को अहंकार से पूरी तरह मुक्त करता है और दूसरी तरफ समय का अतिक्रमण कर के अपना सारा ध्यान वीणा के अंगी (किरीटी तरु) पर लगाता है। वह किरीटी तरु को अंगी, अक्षत, आत्म-भरित और रस-विद जैसे विशेषणों से संबोधित करता है। ये विशेषण संकेत करते हैं कि प्रियंवद किरीटी तरु को मात्र वृक्ष के रूप में ही नहीं देखता है बल्कि उस में ब्रह्म की अखंड सत्ता को देखने का प्रयास करता है। वह मात्र किरीटी तरु पर ही अपना ध्यान नहीं लगाता है बल्कि उस किरीटी तरु पर होने वाले समस्त कार्य व्यापार को अपने मन में प्रतीयमान करता है। यह भी जेन साधना पद्धति की ही विशेषता है।

इस के बारे में बतलाते हुए आर्थर वाले कहते हैं, ''जेन ध्यान का एक दूसरा आयाम भी कला के लिए महत्वपूर्ण है जिसे हम बुद्ध प्रकृति कहते हैं, उस में मनुष्य के साथ-साथ प्रकृति में अस्तित्वमान सभी तरह के जड़ और चेतन अन्तर्निहित होते हैं। पत्थर, नदियाँ और वृक्ष आदि भी ब्रह्मांड की एकता में समाहित होते हैं। इस तरह साधक अपनी अखंड चेतना में प्रकृति के साथ बहुत गहराई से जुड़ जाता है। चिड़ियों का चहचहाना, जल प्रपात का शोर, बादल की गड़गड़ाहट और पेड़ों के बीच हवा की सनसनाहट आदि सभी ब्रह्म की आवाज बन जाते हैं।'' (जेन बुद्धिजूम एंड इट्स रिलेशन टू आर्ट 1922, पृ. 24) अनायास नहीं है कि प्रियंवद केश कम्बली भी वीणा और किरीटी तरु के बहाने जड़ और चेतन सहित प्रकृति की सभी आवाजों पर अपना ध्यान लगाता है और उन को सुनने का प्रयत्न करता है। अज्ञेय ने अपनी कविता में प्रकृति के इन आवाजों के सर्जनात्मक सम्प्रेषण के लिए शानदार ध्वनि बिम्बों की रचना की है।

*हाँ, मुझे स्मरण है :*
*बदली-कौंध-पत्तियों पर वर्षा बूंदों की पट-पट*
*घनी रात में महुए का चुप-चाप टपकाना।*
*चौंके खग शावक की चिहुंक।*
*शिलाओं को दुलराते वन-झरने के*
*द्रुत लहरीले जल का कल-निदान।*
*कुहरे में छन कर आती*
*पार्वती गाँव के उत्सव-ढोलक की थाप।*
*गड़रियों की अनमनी बांसुरी।*
*कठफोड़े का ठेका। फुलसुन्धनी की आतुर फुरकन :*
*ओस-बूंद की ढरकन-इतनी कोमल,*
*तरल, कि झरते-झरते मानो*
*हरसिंगार का फूल बन गयी।*
*भरे शरद के ताल, लहरियों की सरसर-ध्वनि।*
*कून्जों क्रेंकार कान्द लम्बी टिट्टिभ की।*
*पंख-युक्त सायक-सी हंस-बलाका।*
*चिड़-वनों में गंध-अंध उन्मद पतंग की जहाँ तहाँ टकराहट*
*जल-प्रपात का प्लुत एकस्वर।*

*झिल्ली-दादुर, कोकिल-चातक की*
*झंकार पुकारों की यति में*
*संसृति की सांय-सांय।*

(**अज्ञेय काव्य स्तबक**, पृ. 95)

यह उद्धरण अज्ञेय के सूक्ष्म प्रकृति पर्यवेक्षण का उदहारण तो है ही, इस कविता में केश कम्बली के लिए जड़ और चेतन से निकलने वाली ये सारी आवाजें ब्रह्म की आवाजें हैं और सृष्टि से साधक के एकात्म की अनुभूति तक पहुंचाने का मार्ग हैं। इसीलिए वह इन पर ध्यान लगाता है। बार-बार अभ्यास कर के, गहनता से प्रयास करते हुए केश कम्बली इस मार्ग पर चल पड़ता है और चलते-चलते उस स्थिति तक पहुंच जाता है जब उस को सृष्टि की अखंडता का बोध होता है। यह अवस्था जेन ध्यान पद्धति का चौथा और अंतिम सोपान है। इस अवस्था में वह सम्पूर्ण सृष्टि की लय से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही शून्य की अनुभूति की अवस्था है।

ध्यान की इस चरमावस्था में उस में और वीणा में कोई द्वैत नहीं रह जाता है। उस में और वीणा में कोई तात्विक भेद नहीं रह जाता। दोनों में एक ही अखंड धारा बह रही होती है। यह अखंड धारा विलक्षण और अपूर्व आनंदमयी चेतना होती है। यह अखंड धारा ही हिन्दुओं का ब्रह्म है, बौद्धों का शून्य या निर्वाण है और ईसाइयों का अब्सोल्युट है। ऐसी अवस्था में पहुंचकर वह वीणा के तारों को छेड़ता है और वीणा बजने लगती है। वीणा के संगीत से अपूर्व आनंद की प्राप्ति होती है।

*सहसा वीणा झनझना उठी–*
*संगीतकार की आँखों में ठंढी पिघली*
*ज्वाला-सी झलक गयी–*
*रोमांच एक बिजली-सा सब के तन में दौड़ गया।*
*अवतरित हुआ संगीत*
*स्वयम्भू*
*जिस में सोता है अखंड*
*ब्रह्मा का मौन*
*अशेष प्रभामय।*

(**अज्ञेय काव्य स्तबक**, पृ. 98)

वैसे तो, हमारी काव्य परंपरा में कला से प्राप्त रस को ब्रह्म स्वाद सहोदर कहा ही गया है। लेकिन यहाँ वीणा से जो संगीत प्रकट हुआ, वह ब्रह्म स्वाद सहोदर नहीं है बल्कि स्वयं ब्रह्म स्वरूप है। वह संगीत जो 'स्वयंभू' है और जिस में 'अशेष प्रभा' वाले ब्रह्म का मौन अन्तस्थ है। इस का कारण यह है कि केश कम्बली अपनी आध्यात्मिक अनुभूति (शून्य की अनुभूति) को संगीत के माध्यम से अपने श्रोताओं तक संप्रेषित कर पाने में सक्षम होता है। अपनी अध्यात्मिक अनुभूति का सीधा सम्प्रेषण भी जेन ध्यान पद्धति की ही विशेषता है। इस ध्यान पद्धति के अनुसार आध्यात्मिक साधना द्वारा पायी गयी यह अनुभूति बुद्धि से परे की अवस्था है। अर्थात, बुद्धि द्वारा या वाद, विवाद और संवाद द्वारा इस अनुभूति के बारे में नहीं बताया जा सकता है। यह ऐसी सच्चाई है जो शब्दों से परे है। अतः, शास्त्र रच कर भी इसे संप्रेषित नहीं किया जा सकता है। डा. चपला वर्मा ने जेन ध्यान पद्धति के बारे में लिखा है, ''यह (जेन पद्धति) धर्मशास्त्र के बजाए अनुभूति के सीधे सम्प्रेषण पर अधिक ध्यान देती है'' (जेन बुद्धिज्म फिलोस्फी एंड मिस्टिसिज्म, पृ. 44).। इस कविता में केश कम्बली ने जिस आनंदमय निर्वाण की अनुभूति की है, उसे संगीत के माध्यम से अपने श्रोताओं को भी अनुभूत करा दिया। इसीलिए वह संगीत स्वयंभू है और उस में अशेष प्रभामय ब्रह्म का मौन व्याप्त है– अर्थात, नागार्जुन का शून्य व्याप्त है।

शून्य और निर्वाण की अनुभूति या ब्रह्म से साक्षात्कार की अनुभूति व्यक्ति को पूरी तरह से बदल देती है। भारतीय परंपरा में इस निर्वाण की अनुभूति की बहुत महत्ता है। इस परंपरा में स्वानुभूति को शास्त्र की तरह ही प्रमाण माना गया है। हर व्यक्ति को यह अनुभूति एक ही तरह की नहीं होती है। व्यक्ति की योग्यता के अनुरूप इस स्वानुभूति में अंतर होता है। योग्यता का निर्धारण हृदय की पवित्रता और मन में पैठे करुणा की मात्रा से तय होता है। इस संगीत को सुनने के बाद राजा, रानी और अन्य सभी श्रोताओं के मन में उदात्त भावनाओं का उन्मेष होता है और उन सब का व्यक्तित्व बदल जाता है। सब के मन में कर्तव्य पालन करने का अलग-अलग बोध जागता है क्योंकि सब की योग्यता अलग-अलग है। इसीलिए कवि कहता है कि सब ने अलग-अलग संगीत सुना–अर्थात, सब के मन में अलग-अलग अनुभूति हुई।

राजा ने अलग सुना, रानी ने अलग सुना और सब ने भी अलग अलग संगीत सुना। इस अलग-अलग संगीत को सुनने के बाद सभी का व्यक्तित्व बदल गया। राजा की ईर्ष्या, महात्वाकांक्षा और द्वेष आदि समाप्त हो गये और उस ने संकल्प किया कि वह अपना जीवन धर्म-भाव पर न्योछावर कर देगा–अर्थात, अपने जीवन को कर्तव्य पथ यानी प्रजा की भलाई पर कुर्बान कर देगा। रानी के मन में यह भाव जगा कि वह कृत्रिम सौन्दर्य और आभूषणों का लोभ न कर के सिर्फ सच्चे प्यार की साधना में अपना

जीवन अर्पित करेगी। इसी तरह, सभी श्रोताओं के मन में अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप कर्तव्य बोध जगा। कर्तव्य बोध के जगने का कारण यह है कि निर्वाण की अनुभूति से मन एक ओर तो करुणा से भर जाता है और दूसरी ओर आत्म परीक्षण और स्व मूल्यांकन का तीव्र बोध होता है। इसी अध्यात्म बोध के कारण कबीर कहते हैं–'बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिला कोई, जो दिल ढूंढा आपनो मुझ से बुरा न कोई।' साधक अपनी कमजोरियों के प्रति सचेत हो जाता है और उस को दूर करने का प्रयत्न करने लगता है। करुणा की प्रबलता के कारण दूसरों की भलाई के लिए अपने कर्तव्य पथ पर दृढ़ होने लगता है। यहीं से निष्काम कर्म के पथ पर चलने का मार्ग प्रशस्त होने लगता है।

यहाँ अध्यात्म के प्रभाव को अज्ञेय ने बिंबों के माध्यम से दिखलाया है। इस पूरे अनुच्छेद में दर्जनों बिम्बों का प्रयोग किया गया है। ये बिम्ब लोक से उठाये गये हैं। अन्न की सोंधी खुशबू, नयी वधू की सहमी-सी पायल ध्वनि, शिशु की किलकारी, जाल-फंसी मछली की तड़पन, मंडी की ठेलमठेल, लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें आदि आदि। अज्ञेय इन लोक बिम्बों के माध्यम से अध्यात्म और लोकजीवन के सम्बन्ध को रेखांकित करना चाहते हैं। भारतीय परंपरा में अध्यात्म लोक जीवन से कटा हुआ नहीं है। यह लोक और परलोक दोनों की साधना का पथ है। करुणा की प्रबलता और निष्काम कर्मपथ पर चलने के कारण साधक लोक कल्याण की ओर प्रवृत्त होता है। वह लोक कल्याण निस्वार्थ भाव से करता है। इस परंपरा का साधक लोक की उपेक्षा नहीं करता है। स्वयं बुद्ध का जीवन इस बात का उदाहरण है। ज्ञान प्राप्त करने के बाद वे आनंद लाभ के लिए किसी कन्दरा या गुफा में नहीं गए। स्वयं दुःख मुक्त होने के बाद वे लोक में व्याप्त दुःख को दूर करने के लिए आजीवन प्रयास करते रहे। कबीर इस के अप्रतिम उदहारण हैं। कबीर को लोक की उपेक्षा करनी होती तो घर-बार छोड़ दिये होते। गृहस्थी चलाने की जहमत क्यों उठाते? लोक को जागरूक करने के लिए कष्ट क्यों उठाते? कबीर और नानक जैसे साधक इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय परंपरा में अध्यात्म लोक और परलोक दोनों की चिंता करता है। आधुनिक युग में इस बात के सब से बड़े प्रमाण विवेकानंद हैं जो योग और अध्यात्म का उपयोग समाज और देश को सशक्त बनाने के लिए करना चाहते थे। इस कविता में भी वीणा के माध्यम से आध्यात्मिक अनुभूति होने के बाद राजा अपने लौकिक कर्तव्य पथ पर चलने के लिए दृढ़ हो जाता है। रानी भी अपने प्रेम रूपी कर्तव्य मार्ग पर चलने का संकल्प करती है और यही स्थिति अन्य श्रोताओं की भी है। अज्ञेय अपनी इस कविता में लौकिक जीवन में अध्यात्म की सकारात्मक भूमिका को रेखांकित करना चाहते हैं। भारतीय चिंतन परंपरा में जैसे मृत्यु पर चिंतन करना जीवन से पलायन करना नहीं होता बल्कि जिजीविषा और जिवेष्णा को रेखांकित करना और जीवन में स्थाई रूप से कुछ कर गुजरने की प्रेरणा देना होता है, उसी तरह अध्यात्म और पारलौकिकता पर चिंतन करने का अर्थ लौकिकता की उपेक्षा करना नहीं है, बल्कि गहरे अर्थों में लौकिक जीवन को समृद्धि और सार्थकता प्रदान करना भी है। यह अध्यात्म की औपनिवेशिक समझ है कि वह इस लौकिक दुनिया और लोक जीवन की उपेक्षा करता हुआ किसी दूसरे अलौकिक लोक की कल्पना और साधना में रमा रहता है।

भारतीय परंपरा और संस्कृति के विशेषज्ञ विद्यानिवास मिश्र अशोक वाजपेयी से वार्तालाप करते हुए इस बात की ओर संकेत करते हैं, ''यह इन्द्रिय गोचर संसार का महत्त्व था और यह महत्त्व 19 वीं शताब्दी में तिरोहित हुआ नकली आध्यात्मिकता से... जिसे पश्चिम वालों ने कह दिया कि अध्यात्म की सारी पूंजी हिन्दुस्तान के पास है और कुछ है ही नहीं उन के पास, उस से हमारा कोई लेना-देना नहीं था। ईश्वर से लेना-देना था जो हमारी रोजमर्रा की जिंदगी में न हो, दैनंदिन जीवन का हिस्सा न हो, ऐसे अध्यात्म से क्या लेना-देना जिस की प्रतीति हमें अपने जीवन में नहीं होती।'' (पश्चिम के आईने में क्यों देखें अपने को, पृ. 918) रेखांकित करना अनावश्यक है कि अज्ञेय अपनी इस कविता के माध्यम से अध्यात्म की औपनिवेशिक समझ को चुनौती देते हुए आधुनिक समय में अध्यात्म के भारतीय अर्थ को फिर से स्थापित करने का रचनात्मक प्रयास करते हैं।

वीणा वादन से निकले संगीत के अलौकिक आनंद में डूब जाने के बाद श्रोता प्रियंवद केश कम्बली के कद्रदान हो गए। दरबारी केश कम्बली को स्वरजित की उपाधि से विभूषित करने लगे। रानी उन को अपना सतलड़ी हार अर्पित करना चाहती है। राजा प्रियंवद केश कम्बली को पुरस्कृत करने के लिए सिंहासन से उतर कर आते हैं। लेकिन केश कम्बली उस पुरस्कार को स्वीकार करने और अलौकिक संगीत की सृष्टि का श्रेय लेने से इनकार करते हुए कहता है–

*श्रेय नहीं कुछ मेरा :*
*मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में–*
*वीणा के माध्यम से अपने को मैंने*

*सब कुछ को सौंप दिया था–*
*सुना आप ने जो वह मेरा नहीं,*
*न वीणा का था :*
*वह तो सब कुछ की तथता थी*
*महाशून्य*
*वह महामौन*
*अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय*
*जो शब्दहीन*
*सब में गाता है।*

(**अज्ञेय काव्य स्तबक**, पृ. 101)

अलौकिक संगीत की सृष्टि का श्रेय लेने से इनकार करना किसी अहंकारजनित विनम्रता का द्योतक नहीं है जो कलाकारों में आम तौर पर पायी जाती है। विनम्रता के द्वारा अपने महत्त्व को प्रदर्शित करने का यह परंपरा जनित तरीका आज भी चलन में है। लेकिन प्रियंवद केश कम्बली इस बात को सचमुच जानता और मानता है कि संगीत की सृष्टि उस ने नहीं की है। वह तो संगीत सृष्टि का माध्यम मात्र है। संगीत की सृष्टि तो संसृति की उस लय से हुई है जिसे ऊपर की पंक्तियों में हम शून्य कहते आये हैं जो प्रियंवद की साधना का चरम लक्ष्य है। इन पंक्तियों के माध्यम से केश कम्बली अपनी साधना का सार संक्षेप भी बतलाता है और अपनी साधना के दार्शनिक आधार को भी स्पष्ट करता है। इस कविता में ये पंक्तियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि अज्ञेय इन पंक्तियों के माध्यम से इस कविता का उपसंहार भी प्रस्तुत करते हैं। लेकिन आश्चर्यजनक है कि वागीश शुक्ल को इस उद्धरण की शुरू की चार पंक्तियाँ फालतू नजर आती हैं। पूर्वग्रह के दस वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में लिखी अपनी टीका 'असाध्य वीणा एक अध्ययन' में वे कहते हैं, ''प्रारंभ की चार पंक्तियाँ फालतू हैं (और पहली में तो एक कृत्रिमता की भी झलक है) क्योंकि वे फिर अहंकेन्द्रिता को ही स्थापित करती हैं जिस के सीधे विरोध में इस कविता की भावभूमि है। यह कथन 'अप्रासंगिक' तो नहीं है, क्योंकि राजा प्रियंवद को ही साधुवाद दे रहे हैं, रानी प्रियंवद को ही सतलड़ी माला दे रही है, जनता प्रियंवद को ही स्वरजित कह रही है, लेकिन इन सब के प्रतिवाद में शेष पंक्तियाँ ही उपस्थित होती हैं पहली चार पंक्ति नहीं।'' (पूर्वग्रह, 2011, अंक, 63-64)

अपनी असमर्थता और अक्षमता का आरोपण दूसरों पर करना कोई वागीश शुक्ल से सीखे। मैं जिम्मेदारी से कहना चाहता हूं कि अज्ञेय बहुत समर्थ कवि हैं। खोजने पर भी उन की कविता में चार शब्द फालतू नहीं मिलते, चार पंक्तियाँ तो बहुत दूर की बात है। अज्ञेय जैसा सधा शब्द शिल्पी अपनी कविता में चार-चार फालतू पंक्तियाँ रचेगा? लेकिन वागीश जी को ये पंक्तियाँ फालतू लगती हैं क्योंकि वे इस कविता के पाठ के लिए सही सन्दर्भ का चुनाव नहीं करते। वे कविता के मर्म तक नहीं पहुंच पाते।

वीणा वादन के उपरांत प्रियंवद का यह कथन कि उपरोक्त उद्धृत पंक्तियाँ वीणा वादन की प्रक्रिया का समाहार करती हैं। वीणा वादन ध्यान साधना का प्रतिफलन है। अज्ञेय इन पंक्तियों के माध्यम से जेन ध्यान साधना की उस प्रक्रिया का समाहार करते हैं। उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से अज्ञेय जेन साधना के दार्शनिक आधार शून्यवाद को सूत्र रूप में और कविता के समाहार के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। बौद्ध दर्शन में शून्यवाद और उस तक पहुंचने की प्रक्रिया को बहुत ही तार्किक ढंग से समझाया गया है। ध्यान साधना के दौरान साधक को यह बोध होता है कि कुछ भी नित्य अर्थात स्थायी नहीं है। सब कुछ परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन हर क्षण होता है। कोई ऐसा क्षण नहीं है जब चीजों में बदलाव नहीं होता हो। यही इस जगत की सच्चाई है।

इस सच्चाई को महसूस करते ही अर्थात सृष्टि में सब कुछ के परिवर्तनशील होने को महसूस करते ही साधक के मन में राग-द्वेष और अहंकार की क्षणिकता और व्यर्थता का बोध होने लगता है। परिणामतः, उस के मन में राग-द्वेष और अहंकार आदि का लोप होने लगता है। बौद्ध दर्शन में इस बोध को ही अनित्यता (Impermnence) कहा गया है। अपनी ध्यान साधना के पहले चरण में केश कम्बली वीणा के सामने पूर्ण समर्पण करता है। वह अपने अहम्, स्मृति और आकांक्षा आदि से अपने मन को मुक्त करता है। उसी चरण में उसे अनित्यता का बोध होता है। इसीलिए प्रियंवद कविता में राजा से कहता है कि 'मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में'–यानी, उस ने अपने मन को अहंकार से पूरी तरह से मुक्त कर लिया था। इस के उपरांत प्रियंवद केश कम्बली वीणा और किरीटी तरु के सामने समर्पण करता है जिस से वज्रकीर्ति ने वीणा को गढ़ा था। कविता में किरीटी तरु के प्रति समर्पण और अपने मन को अहंकार से मुक्त करने की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। अहंकार मुक्ति से ही पूर्ण समर्पण संभव होता है। इस के उपरांत केश कम्बली का मन अध्यात्म-साधना के मार्ग पर आगे चलने के लिए तैयार हो जाता है। प्रियंवद सिर्फ किरीटी तरु पर ही ध्यान नहीं लगाता है, बल्कि वह उन सब को भी याद करता है जो किरीटी तरु के समूचे परिवेश

को निर्मित करते हैं। अज्ञेय ने किरीटी तरु और उस के समूचे परिवेश को ऐसे रचा है और अपने प्रकृति पर्यवेक्षण को इतनी सूक्ष्मता और धीरज के साथ बिम्बों के माध्यम से संप्रेषित किया है कि वे समूची प्रकृति के कार्य व्यापार को संकेतित करते लगते हैं। अज्ञेय की मंशा भी किरीटी तरु के बहाने प्रकृति के कार्य व्यापार को ही पाठकों के सामने लाने का है। प्रियंवद केश कम्बली किरीटी तरु के बहाने प्रकृति के इस कार्य व्यापार का स्मरण करता है और उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। अहम के समर्पण के बाद प्रकृति के कार्य व्यापार और उस की गति पर अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करना इस कविता का अहम पड़ाव है। यह प्रियंवद की जेन साधना का तीसरा सोपान है।

नागार्जुन के शून्यवादी दर्शन में इस सोपान का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इस चरण में साधक को सब कुछ के आपस में जुड़े रहने और एक लय में गतिमान होने का बोध होता है—यानी, सृष्टि में कोई भी चीज स्वतन्त्र और स्वायत्त नहीं है। जिसे हम एक चीज समझते हैं, वह भी हमारे देखने की सीमा के कारण एक, अकेला और स्वायत्त दिखती है। उस वस्तु को पैदा करने में दूसरी वस्तुओं और प्रक्रियाओं का योगदान होता है। वस्तुतः, वह एक और अकेले नहीं होती है और दूसरी चीजों से जुड़ी होती है। हरेक चीज दूसरी चीज से जुड़ी हुई होती है। सब कुछ सब कुछ के सापेक्ष है और इसीलिए सब कुछ को सब कुछ प्रभावित करता है। यह ध्यान के तीसरे चरण में होता है जहाँ साधक सृष्टि के हरेक अणु को एक-दूसरे से परस्पर सम्बद्ध पाता है। इसी परस्पर सम्बद्धता के कारण वह प्रकृति को एक इकाई के रूप में देख पाता है। इस कविता में साधक प्रियंवद भी उसी अवस्था में पहुंच गया है। शून्यवाद के दर्शन में अनित्यता के बाद यह दूसरा चरण है जिसे परस्परता (interdependence) कहा जाता है। परस्परता के सिद्धांत के अनुसार हरेक चीज में सापेक्षिक सम्बन्ध है यानी वे एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। अनित्यता के सिद्धांत के अनुसार संसार में कोई भी चीज स्थायी नहीं है—यानी, सब कुछ हर क्षण परिवर्तनशील है और नष्ट होने वाली है। इस का अर्थ यह हुआ कि सब कुछ हरेक क्षण बदल रहा है और बदलने वाली हर चीज दूसरी चीजों को भी बदलने में मदद कर रही है—यानी, कुछ भी स्थिर नहीं है सब कुछ गति में है। सब कुछ एक तरह के लय या एक तरह की धारा में बह रहा है। इस जगत में जो भी स्थिर और ठोस दीखता है वह दरअसल स्थिर और ठोस न हो कर हर क्षण परिवर्तित हो रहा है, बदल रहा है। यह ध्यान का चौथा चरण है। इस चरण में पहुंच कर केश कम्बली को अनुभूति होती है कि समूची सृष्टि में यह लय ही एक मात्र सत्य है जो सभी में व्याप्त है। वीणा में भी वही लय है जो खुद उस में है। वह अपने-आप को उसी लय में व्याप्त होता हुआ देखता है। इसलिए वह कहता है कि 'वीणा के माध्यम से अपने को मैंने सब कुछ को सौंप दिया था'—अर्थात, सब में बहने वाले उस लय को सौंप दिया था। इस बोध को ही बौद्ध दर्शन में शून्यता (Emptines) कहा गया है।

यह साधना की चरमावस्था है जहाँ साधक सब कुछ को एक लय में बहते हुए साक्षी भाव से देखता है। इस अवस्था में वह जो भी काम करता है, वह साक्षी भाव से ही करता है। उसे स्पष्ट रूप से महसूस होता है कि जो कार्य उस के द्वारा संभव हो रहा है, वह अनेक प्रकार के कारकों और कारणों का परिणाम है। उसे स्पष्ट बोध होता है कि वह स्वयं उस कार्य का कर्ता नहीं है, उस का कर्ता कोई और ही है और वह तो कार्य निष्पादन का माध्यम मात्र है। इस बोध का परिणाम यह होता है कि किसी भी कार्य के कर्ता होने के भाव का तिरोहन हो जाता है। कर्ता होने के भाव का तिरोहन होने से कार्य के फल पर अधिकार का भाव नहीं रहता है। परिणामतः, फल को प्राप्त करने की चिंता नहीं रहती है। किसी भी कार्य को करते समय उस में अपना लाभ खोजने की स्वार्थी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। कर्तव्य पालन करने की भावना बलवती होती है। फल की चिंता न होने पर कार्य करते समय किसी तरह की दुविधा नहीं होती है और दुविधा न होने के कारण किसी तरह का तनाव नहीं होता है। जब फल की चिंता नहीं होती है तो कार्य को संपादित करने का माध्यम बनने वाले का सारा ध्यान कार्य की प्रक्रिया पर होता है। कार्य की प्रक्रिया पर ध्यान होने के कारण उस कार्य का निष्पादन करते समय कर्ता आनंद की अनुभूति करता है और उसे कार्य से थकान और ऊब नहीं होती है। इसे ही अनासक्त हो कर काम करना कहते हैं। यही कर्ता की अनासक्ति है। यही अनासक्त या निष्काम कर्म है। भगवद गीता में कृष्ण इसी निष्काम कर्म के दर्शन को समझाते हैं और अर्जुन को फल की चिंता न करते हुए सिर्फ कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस अनासक्ति भाव के कारण ही प्रियंवद कहता है कि 'सुना आप ने जो वह मेरा नहीं, न वीणा का था : वह तो सब कुछ की तथता थी'। अनुभूति पर उतरने वाली सच्चाई को तथता कहते हैं। जो इस अनुभव जनित सचाई को देखते-देखते और उस पर चलते-चलते ज्ञान/निर्वाण को प्राप्त कर ले उसे तथागत कहते हैं। बुद्ध को इसीलिए तथागत कहा जाता है। प्रियंवद कहना चाहता है कि

साधना के दौरान हमारी अनुभूति पर उतरने वाली सच्चाई ने ही इस अलौकिक संगीत की सृष्टि की है। इसीलिए वीणा और प्रियंवद तो माध्यम मात्र थे। जो संगीत सब लोगों से सुना, वह तो उस शून्यता की अनुभूति का था। वीणा और प्रियंवद तो अपने श्रोताओं तक उस अनुभूति को संप्रेषित करने के माध्यम मात्र थे। बौद्ध दर्शन में इस शून्य की अनुभूति को ही निर्वाण या परम सत्य माना जाता है ... जो खामोश हो कर सब में व्याप्त है। इस शून्य को संकेतित करने के लिए अज्ञेय महाशून्य और महामौन जैसे विशेषणों का प्रयोग करते हैं। अज्ञेय उस शून्य की विशेषता बतलाते हैं कि वह अनाप्त है अर्थात आप्त नहीं है। वह ऐसा सत्य है जिस को शब्द या शास्त्र के माध्यम से या किसी आप्त पुरुष के कथन और उपदेश के माध्यम से नहीं जाना जा सकता। चूंकि, वह परम सत्य है इसलिए उसे जानने के लिए किसी प्रमाण की जरुरत नहीं होती। इसीलिए उसे अप्रमेय कहा गया है। परम सत्य पूर्ण होता है, इसलिए वह अविभाज्य है। वागीश शुक्ल का ध्यान इस तरफ गया होता तो वे अज्ञेय जैसे कवि पर इस कविता में फालतू पंक्तियाँ रचने का आरोप नहीं लगाते। सूरज को दीपक नहीं दिखलाते।

इस कविता में अज्ञेय अध्यात्म की औपनिवेशिक समझ को चुनौती देते हुए उसे भारतीय अर्थवत्ता प्रदान करने का यत्न करते हैं। असाध्य वीणा शीर्षक कविता के माध्यम से अज्ञेय कला और अध्यात्म के रिश्ते की पुनर्स्थापना करते हैं जिसे हिंदी कविता ने आधुनिकता के झोंक में गंवा दिया था। वे आधुनिकता के उत्कर्ष काल में इस बात पर इसरार करते हैं कि आध्यात्मिक अनुभूति को संप्रेषित करना कला का बुनियादी कर्म है। वे प्राचीनों की इस बात को आधुनिक युग में संभव कर के दिखाते हैं। लेकिन उन के और प्राचीनों के अध्यात्म में अंतर है। अज्ञेय के अध्यात्म का लक्ष्य किसी परम तत्व या निर्वाण को प्राप्त करना नहीं है। वे अध्यात्म का कलात्मक उपयोग करने के पक्षधर हैं। यह कविता इस बात पर इसरार करती है कि अध्यात्म हमारी कला और हमारे लौकिक जीवन को समृद्ध करता है। उन की कविता इस बात को भी स्थापित करने में सफल होती है कि सांस्थानिक धर्म और शास्त्र से विरत रह कर भी आध्यात्मिक अनुभूति को उपलब्ध कर पाना और उस का सम्प्रेषण कर पाना संभव है—हृदय की उदात्तता, मन की पवित्रता और आत्मप्रसार की चेतना से सराबोर हो पाना संभव है।

धर्मेत्तर अध्यात्म की संकल्पना प्रस्तुत करते हुए अज्ञेय अपने समय के अनुरूप अपनी परंपरा को संशोधित करते हैं। इसे ही परंपरा की नवीनता कहते हैं। परंपरा से आधुनिकता का झाँकना कहते हैं, देशज आधुनिकता का मार्ग प्रशस्त करना कहते हैं। यह कविता प्रकारांतर से हमें यह भी सिखाती है कि विचारधारा और राजनीति के अतिरिक्त और भी दूसरे आशय हैं जो हमारे 'अंतःकरण के आयतन को संक्षिप्त' होने से बचा सकते हैं। 'जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि' कह कर खारिज करने के बजाए, आज सही सन्दर्भ में इन आशयों का पाठ निर्मित करने की जरूरत है। इन आशयों को वर्गीय अभिरुचि और वायवीयता का उदाहरण समझ कर काव्य परिसर से बाहर करने पर जीवनानुभवों की विविधता और व्यापकता का क्षरण होता है जो अंततः साहित्य के जनतंत्र को भी क्षरित करता है। विक्षुब्ध मानवता की सेवा करुण हृदय ही कर सकता है और अध्यात्म हमारे मन में करुणा की भावना को जागृत करता है, हमारी संवेदनशीलता को बढ़ाता है। करुणा से विरत हो कर परिवर्तनकामी शक्तियाँ अक्सर क्रूर और हिंसक हो जाया करती हैं। तात्पर्य यह कि भारतीय परंपरा के मूल्यवान तत्वों को खारिज कर के या उन का कुपाठ कर के 'सुन्दर का स्वप्न' हकीकत में नहीं बदला जा सकता है।

## सन्दर्भ


1. गिरीश्वर मिश्र, व. (2016). पश्चिम के आईने में क्यों देखें अपने को, विद्या निवास मिश्र रचना-संचयन (पृ. 909-922) नयी दिल्ली : साहित्य अकादेमी।
2. मिश्र व शाह, र. (1995). अज्ञेय काव्य स्तबक, नयी दिल्ली : साहित्य अकादेमी
3. वर्मा, च. (1998). जेन बुद्धिज़ूम फिलोसोफी एंड मिस्तिसिज्म. दिल्ली : विद्यानिधि प्रकाशन
4. वाजपेयी, अ. (1970). फिलहाल. दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
5. वाले, आ. (1922 ). जेन बुद्धिज़ूम एंड इट्स रिलेशन टू आर्ट 46, ग्रेटर स्सेल स्ट्रीट, बूप, लन्दन : लुजाक एंड कंपनी
6. शाह, र. (1998 ). आलोचना का पक्ष .बीकानेर : वाग्देवी प्रकाशन
7. शुक्ल, व. (2011, जुलाई 28)
8. http:\\suniansuni.blogspot.com/. Retrieved March 16, 2020, from suniansuni.blogspot.com: http://suniansuni. blogspot.com/



**डा. संतोष कुमार**
एसोशिएट प्रोफेसर
शहीद भगत सिंह कालेज
दिल्ली विश्व विद्यालय दिल्ली

# *बिहार का एक समृद्ध सांस्कृतिक क्षेत्र–तरियानी*

*–डा. हेमंत कुमार हिमांशु*

बंकाघाट-फतुहा से ले कर बड़हिया-लखीसराय तक गंगा के दक्षिणी तटवर्ती भू-भाग को लोग सदियों से 'तरियानी' कहते रहे हैं। मगहवाले भी इसे तरियानी कहते हैं और गंगापार वाले भी तरियानी ही कहते हैं। गंगा ने इस भू-भाग को बड़ी समृद्धि दी है। इस का जल पूरे इलाके को सालों भर तर-ब-तर रखता है। गंगापार कई बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं। बरसात में उफनती हैं और समूचा उत्तर बिहार बाढ़ में डूबता-उतराता रहता है। उधर मगह के इलाके में नदियाँ कम हैं। जो हैं भी (फल्गु-पुनपुन) छोटी-छोटी हैं। उन में बरसात के दिनों में ही पानी आता है और जल्दी सूख जाता है। शेष सभी बरसाती नदियाँ हैं। महाने और मोरहर जैसी बरसाती नदियाँ वर्षाजल से भर जाती हैं और तैलफैल हो कर छितरा जाती हैं। ढाई-तीन महीनों के बाद उन का पता भी नहीं चलता। गंगा के उस पार पानी की अधिकता है तो मगह में पानी का अभाव है। पानी के इस खेल से तरियानी का भू-भाग अछूता है। इस के तल में भरपूर जल है। सारा इलाका हरा-भरा रहता है। राष्ट्रीय उच्चमार्ग के दोनों तरफ और रेलवे लाइन के उत्तरी किनारे, लगभग डेढ़ सौ किलोमीटर तक, पेड़-पौधों एवं बाग-बगीचों का लंबा सिलसिला है। मगह क्षेत्र में यह हरियाली कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है। कुछ गाँव तो ऐसे हैं जहाँ दातून के भी लाले पड़े रहते हैं।

गंगा से तरियानी का बड़ा गहरा लगाव है। केवल 'तीर' पर बसे रहने के कारण नहीं, बल्कि अनेकानेक आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक और सामाजिक संबंधों के कारण भी। गंगा भारतवर्ष की पहचान है। यूं तो कई नदियाँ हैं यहाँ और कई महत्वपूर्ण भी, मगर गंगा, गंगा है। संसार अगर भारत को किसी एक चीज से जानना चाहे तो वह गंगा है। सभी इसे 'गंगा मइया' नहीं भी कहते तो 'जी' लगा कर 'गंगा जी' जरूर कहते हैं। यहाँ तुलसी के पत्ते को 'दल' और गंगा के पानी को 'जल' कहा जाता है। तुलसी-दल! गंगाजल! पवित्रता और मर्यादा की पराकाष्ठा है। गंगा ने अपने तटवासियों को भी यह सम्मान प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया है। तरियानी के लोग सम्मान के पात्र माने जाते रहे हैं।

गंगा के किनारे बसा हुआ आज का पूरा पटना जिला तरियानी क्षेत्र है। अजातशत्रु ने जिस पाटलिपुत्र को बसाया था, वह कालांतर में पटना हो गया। तब वणिक, श्रेणिक, सार्थवाह और श्रेष्ठिगण भी थे। भूमार्ग से व्यापार तो होते ही थे, जलमार्ग से भी व्यवसाय होने लगे। हजारों किलोमीटर बहने वाली गंगा का प्रयोग होने लगा। पोत, नौकाएं और उन के बेड़े आने-जाने लगे। पाटलिपुत्र पोतस्थान (बंदरगाह वाला नगर) बना और उस के बाद पत्तन (प्रकृति में) पट्टन होता हुआ

पटना रूढ़ हो गया। पत्तन वस्तुतः नदी के किनारे वाले नगर को कहते हैं जहाँ जलमार्ग से वाणिज्य के कार्य होते हैं और तट पर पोत, नौकाएं और बेड़े रुकते हैं। पटना से ले कर मोकामा तक कई प्रसिद्ध घाट हैं। सर्वविदित है कि पटना का महेन्द्रू घाट सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र के नाम पर है। इसी घाट से बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए वे श्रीलंका (सिंहल) गये थे। बाँसघाट से तो आज भी इमारती लकड़ियों और बाँसों का कारोबार होता है। ये घाट तीर्थ के लिए भी हैं, व्यवसाय के लिए भी हैं और पर्यटन के लिए भी। पटना सिटी का 'गायघाट' गुरु गोविन्द सिंह जी का जन्मस्थान तो सिखों का अत्यंत पवित्र तीर्थक्षेत्र है।

यह व्यापार की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण घाट रहा है। उत्तर बिहार को दक्षिण बिहार से जोड़ने वाला घाट। आगे जा कर सिमरिया घाट जो राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर का जन्मस्थान है। गंगा के किनारे सिमरिया घाट का बड़ा महात्म्य है। जो महत्व काशीवास का है, वही महत्व सिमरिया घाट में गंगावास का है। इन घाटों ने तटवासियों को अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक संपन्न, व्यवहार-कुशल और विकासोन्मुख बनाया है। तीस-चालीस साल पहले तक गंगा में सामानों से लदी बड़ी-बड़ी नौकायें दिन में कई-कई बार इधर से उधर और उधर से इधर आती-जाती रहती थीं।

तरियानी क्षेत्र की कई विशेषताएं हैं। उसी प्रकार तरियानी शब्द की कई खूबियाँ हैं। किस शब्द को तरियानी की व्युत्पति का मूल रूप माना जाए? संस्कृतवाला, फारसीवाला या देशज? सुविधा यह है कि बिना उलझन के तीनों रूपों से तरियानी शब्द की व्युत्पत्ति मानी जा सकती है और उस की विशेषताओं को समझा जा सकता है। निम्न सूचनाओं से यह भी सिद्ध हो जायेगा कि तरियानी और तरयानी में वस्तुतः कोई फर्क नहीं है। विश्लेषण इस प्रकार है :

| शब्द | भाषा | अर्थ |
|---|---|---|
| तर (पु.)[1] | संस्कृत | पार करने की क्रिया, मार्ग, बढ़ जाना, घाटवाली नाव, नाव का भाड़ा। |
| तरस् (पु.) | संस्कृत | तट, नदी पार करने का घाट, नाव बेड़ा, बल, वेग। |
| तर (विशेषण) | फारसी | आर्द्र, अत्यंतसिक्त, ठंढा, भींगा हुआ, सराबोर, मालदार। |
| तर (अव्यय) | स्थानीय (देशज) | नीचे, तले तलछट, पेड़, तरु। |
| तरियानी[2] | स्थानीय | नीचे करना, तल में बैठना। |
| तरी, | स्थानीय | तरावट, गीलापन, कछार, तराई, नाव, |
| तराई | स्थानीय | पहाड़ के आस-पास की भूमि जहाँ हमेशा तरी बनी रहती है।[3] |

तराई छोड़ कर शेष सभी शब्द तरियानी क्षेत्र की खासियत बखान करते हैं। पूरे क्षेत्र में गंगा नदी है। अनेक नगर, उपनगर, गाँव और टोले किनारे पर बसे हैं। स्वाभाविक है, सर्वत्र छोटे-बड़े बेड़े होंगे और नावें होंगी। नदी से इस पार और उस पार उतरने का सिलसिला रहा होगा। नाव का भाड़ा भी देना होता होगा। गंगा नदी जब किनारे से बह रही हो तो तय है कि सारा भूभाग आर्द्र, भींगा हुआ, ठंढा और पूरी तरह सींचा हुआ रहेगा। जमीन अगर अच्छी तरह सींची हुई होगी तो साफ है कि उपज शानदार होगी तथा लोग मालदार होंगे। तरियानी पर यह बात पूरी तरह सिद्ध होती है।

गंगा पोषण करती है, मगर विकराल रूप धारण कर लेती है तो तबाही भी मचा देती है। यह इलाका भुक्तभोगी है। पानी तो बहता ही रहा है, बाढ़ भी आती रही है। बाढ़ का मतलब 'बढ़त' होता है, भले वह बढ़त पानी की ही क्यों न हो? संस्कृत के वृद्धि शब्द से बाढ़ शब्द बना है। तरियानी में बाढ़ नाम का एक प्रमुख शहर है। सबडिवजीन है पटना जिला का और यह बाढ़ नाम जलप्लावन को ही ले कर पड़ा है। तरियानी में केवल बाढ़ ही एक स्थान नहीं है, कई ऐसे गाँव हैं जिन के नाम का विवेचन-विश्लेषण कर के इस तथ्य का पता चलता है कि यह पूरा क्षेत्र जल से परिपूर्ण रहा होगा। एक छोटा सा उदाहरण 'जल्ला' का लें। यह हिस्सा गुलजारबाग से ले कर पटनासिटी तक रेलवे लाइन के दक्षिण में पड़ता है। सालों भर पानी रहता है। तारीफ करनी होगी उन की जिन्होंने इस का बहुवचन नाम जल्ला रखा होगा। जल का ढेर या अंबार—जो कहें, 'जल्ला' नाम सर्वथा उचित है। रेलवे लाइन के उत्तर में बंकाघाट से शुरू करें तो गाँवों के अध्ययन में सुविधा होगी। बंकाघाट के पास गंगा थोड़ी वक्र होती है। यहाँ घाट रहा होगा। नावें चलती होंगी। पटना के नजदीक होने के कारण व्यवसाय भी होता होगा। फतुहा के पास पुनपुन गंगा में मिलती है। फतुहा के निकट तो एक गाँव ही ऐसा है जिस का नाम दरियापुर है। खुसरूपुर के पास एक गाँव है बैकठपुर। लोग इसे बैकठ कहते हैं और यहाँ एक अत्यंत प्रसिद्ध शिव मंदिर है। यह बैकठ महाराष्ट्र के पैठण की तरह इलाके में विख्यात है। बैकुंठपुर से बैकठपुर बना है। यहाँ जो शिव मंदिर है, वह बड़ा प्राचीन है। सोलहवीं सदी में राजा मान सिंह ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार कर के नया रूप और आकार दिया था। यहाँ शिवरात्रि के दिन भारी मेला लगता है।

बख्तियारपुर के आगे अथमलगोला है। गोला अनाज के भंडारण को भी कहते हैं और मंडी को भी। स्थानीय लोगों के लिए यह जगह आज भी बड़ा बाजार है। आगे

बाढ़ है। यहाँ भी एक प्राचीन शिव मंदिर है जिस का नाम उमानाथ मंदिर है। गंगा का शिव से घनिष्ठ संबंध है, इसलिए इस जवार में गंगा तट पर शिवाला प्रायः हर गाँव में मिलेगा। किन्तु, उमानाथ का मंदिर विशेष रूप से प्रसिद्ध है। बाढ़ से मोकामा तक कुछ ऐसे ग्राम-नाम मिलते हैं जिन से प्रमाणित होता है कि यह क्षेत्र केवल जल से ही नहीं, बल्कि जलचरों और जलाश्रित श्रमिकों से भी जुड़ा रहा है। बाढ़ के पास दो गाँव हैं—मलाही और ढीबर। मलाही मलाह (मल्लाह अरबी, माँझी, केवट) से बना शब्द है। यहाँ मलाहों की बस्ती रही होगी और वे नाव का धंधा करते होंगे। ढीबर संस्कृत के धीवर शब्द से बना है जिस का अर्थ केवट, मलाह और माँझी होता है। यहाँ भी इसी व्यवसाय से जुड़े लोग रहते होंगे। बाढ़ से सटे कुछ दूर पर लदमा नाम का एक गाँव है। संभवतः, वहाँ नावों पर माल-असबाब की लदनी का काम होता होगा। कुछ दूर और आगे जाने पर दो गाँव मिलते हैं, रैली और मेकरा। रैली शब्द बना है रेला से। रेला कहते हैं तेज गति के बहाव को। इस जगह पर पानी बड़ी तेज रफ्तार से आता होगा और सब कुछ को ठेलता-बहाता होगा। रेला में धक्का देना और ठेलना भी शामिल है। आज जिस आयोजन के लिए अंग्रेजी के रैली शब्द का प्रयोग होता है, वस्तुतः उस में भी भीड़, रेलमपेल और धक्कामुक्की का ही रूप दिखाई पड़ता है।

मेकरा शब्द मकर से बना लगता है। मकर घड़ियाल को कहते हैं। संभव है, इस तरफ घड़ियाल आते रहे हों। आगे जा कर पुनारख गाँव आता है। इस के कई नाम सुनने में आते हैं। पुण्यार्क, पंडारक और फिर पुनारख। पुण्यार्क अर्थात पवित्र सूर्य। हो सकता है, वहाँ कभी सूर्य का मंदिर रहा होगा। इस के बाद ही आता है मोर गाँव। तरावट के कारण यह इलाका हरा-भरा तो था ही, जंगल भी रहे होंगे और यहाँ मोर नामक पंछी की बहुतायत होगी। आज मोर हमारा राष्ट्रीय पक्षी है और उस के नाम पर कभी इस गाँव का नाम पड़ा होगा। वैसे प्रसिद्ध इतिहासकार डा. राधाकृष्ण चौधरी ने इसे (मोर को) सम्राट चंद्रगुप्त की माँ 'मुरा' के नाम से भी जोड़ कर देखने का प्रयास किया है। मोर गाँव के दक्खिन (टाल में) दो बड़ी पुरानी डीहें (मिट्टी के ऊंचे टीले) हैं। एक को लोग छोटी डीह और दूसरी को बड़ी डीह कहते हैं। डा. चौधरी का यह भी मानना है कि इन डीहों की खुदाई होने पर इतिहास के कई नये चेहरे सामने आ सकते हैं। आगे बरहपुर गाँव है। बरहपुर का वरह संस्कृत के वराह से बना है। वराह सूअर को कहते हैं। जब जंगल था यहाँ तब ये रहते होंगे। इस इलाके का श्मशान घाट इसी गाँव के पास गंगा के किनारे अवस्थित है। नाम है, सिसवरिया घाट। असल में यह बँसबरिया है। उसी के नजदीक डोमों का एक टोला आज भी है और वे बाँस से तरह-तरह के सामान बना कर बेचते हैं। श्मशान का काम करने के अलावा ये और भी कई तरह के व्यवसाय करते हैं। सूअर भी पालते हैं।

आगे शिवनार नामक गाँव है। शिव के नाम से जुड़े इस गाँव में नीलकंठ महादेव का बड़ा पुराना मंदिर है। गंगा के तट पर बसे इस मंदिर की ऐसी प्रसिद्धि है कि शिवरात्रि के दिन यहाँ हजारों-हजार की तादाद में मगह से लोग गंगास्नान और शिवदर्शन के लिए आते हैं। मेला भी बहुत बड़ा लगता है। इस प्रकार तरियानी में गंगातट पर शिव के तीन प्राचीन और प्रसिद्ध मंदिर हैं। बैकठपुर के महादेव, बाढ़ के उमानाथ और शिवनार के नीलकंठ। शिवनार के बाद मोकामा आता है। बहुत बड़ा गाँव है। बड़ा पुराना भी है। एक तरह से तरियानी की पहचान है मोकामा। वैसे, मोटा-मोटी तीन हिस्सों में तरियानी को बाँटा जा सकता है :

क. बाढ़ और पुनारख का हिस्सा (फतुहा को भी इस में शामिल कर लेते हैं)

ख. मोर और मोकामा का हिस्सा, तथा

ग. बड़हिया और लखीसराय का हिस्सा।

मोकामा मध्यवर्ती हिस्सा है, इसलिए महत्त्वपूर्ण है। मोकामा के कई नाम प्रचलित हैं—मोकामा, मुकामाँ, मुकमा और मोकमा। दरअसल, मोकामा बना है मुकाम से। मुगलकाल में फौजों का पड़ाव या कैम्प होता था। दिल्ली से बंगाल तक जाने वाली सीधी सड़क के किनारे तरियानी वाले गाँव बसे हुए हैं। उत्तर में गंगा, दक्षिण में रेवले लाइन और बीच में राजमार्ग। मोकामा प्राचीनकाल से उत्तर और दक्षिण का मिलन-स्थान रहा है। यहाँ से गंगा पार कर के उत्तर बिहार चले जाइए और मन हो तो दक्षिण में मगह के इलाकों में घूम आइए। उत्तर बिहार वाले यहीं से दक्षिण बिहार जाया करते थे। तब मोकामा से सटे ही मोकामाघाट होता था जहाँ से लोग नदीमार्ग द्वारा इस पार और उस पार जाते थे और व्यापार भी करते थे। कारोबार का मशहूर इलाका था। पर्यटन को बल मिलता था। आवागमन के कारण लोग सुखी थे। ये सारे सिलसिले हाल-हाल तक चले थे। 1942 ई. में अंग्रेजों ने मोकामा में बहुत बड़ी फौजी छावनी खड़ी की थी। आज भी लोग उस जगह को कैंप के नाम से ही जानते हैं। मोकामा घाट में स्टीमरें चलती थीं। स्टीमर से गंगा पार कर के यात्री बरौनी पहुंचते थे। गंगातट पर एक गाँव है जिस के नाम से गंगा की अगम गहराई का अंदाज लग जाता है। हाथीदह जल का ऐसा प्रचंड वेग कि हाथी भी दह जाये। इस जोड़ का एक

ही नाम मिलता है–पूर्वी चंपारण का भैसालोटन। आज उसे वाल्मीकि नगर कहते हैं और वहाँ बहुत बड़े बाँध का निर्माण हुआ है। इस के आगे बड़हिया और लखीसराय का वृहत्तर भू-भाग है। रेलवे लाइन के दक्षिण मीलों तक लंबाई-चौड़ाई में फैला जो सपाट इलाका है, उसे लोग बड़हियाटाल कहते हैं। कहा जाता है कि कभी यहाँ बढ़ई लोगों की बहुतायत थी और इसी कारण इसे बढ़इया (बड़हिया) कहा जाने लगा। संभव है, जंगल के कारण लकड़ी खूब मिलती होगी और बढ़ई लोग अपना धंधा करते होंगे। कारण जो भी रहा हो, एक बात सच है कि यह इलाका हर मामले में बड़ा जरूर है। लखीसराय या लक्खीसराय जो कहें, यह स्थान जमाने से अनाज के व्यवसाय का केन्द्र रहा है। सराय भी रही होगी जहाँ व्यवसायी ठहरते होंगे। लक्ष्मी या लक्खी वाणिज्य की देवी लक्ष्मी का अपभ्रंश हो सकता है।

लखीसराय के पहले एक गाँव है–मनकठा। बड़हिया के समीप है। यह क्षेत्र बड़ा उपजाऊ है। एक कट्ठा जमीन में एक मन उपज होने के कारण गाँव का नाम ही मनकट्ठा पड़ गया। बाढ़ के पास चार ऐसे गाँव हैं जिन के नामों से ही पता चल जाता है कि यह क्षेत्र जल, जंगल और जानवरों से कभी भरा रहा होगा। गाँव हैं–बेढ़ना, दहौर, अजगरा और खजुरार। बेढ़ना कहते हैं बाड़ बना कर रोकने की क्रिया को। हो सकता है कि लोग अपनी हिफाजत के लिए ऐसा करते हों। दहौर तो दहाड़ (बाढ़) से ही निर्मित लगता है। अजगरा निश्चित रूप से अजगर है और उस भूमि पर कभी रहता होगा। बह-दह कर आता होगा। खजुरार खजूर के पेड़ से संबंधित है। यहाँ खजूर के पेड़ों की अधिकता रही होगी। बलुआही मिट्टी के कारण यह मुमकिन भी है। ताड़ के पेड़ जहाँ ज्यादा होते हैं, उसे तड़बन्ना और बबूल के गाछ जिस जगह ढेर सारे होते हैं, उसे बबुरबन्ना कहा भी जाता है।

गंगा की पवित्रता के कारण तरियानी क्षेत्र का धार्मिक महत्त्व भी असंदिग्ध है। यह महत्त्व केवल तटवासियों के लिए ही नहीं, बल्कि उस से ज्यादा दूर-दराज बसने वाले मगहवासियों के लिए रहा है। गंगा तार देती है। उद्धार करती है और भवसागर पार कराती है। बहुत तरह से हमारा त्राण करती है गंगा। कहीं त्राण से तो तरियानी का उद्भव नहीं हुआ है? मोकामा का एक नाम मोक्षकामा भी है। मोक्ष यानी मुक्ति की कामना। यह तथ्य सर्वविदित है कि सिमरिया घाट (मोकामाघाट के पार) पर कार्तिक मास में कल्पवास का आयोजन होता है। दूर-दूर से लोग आते हैं और पूरे कार्तिक मास तक यहाँ गंगा-तट पर वास करते हैं। कामना मुक्ति की होती है। इसी तरह मोक्ष प्राप्ति की इच्छा ले कर लोग वाराणसी में गंगा के किनारे काशीवास करते हैं। भले मुक्ति का यह उपक्रम अब बहुत कम हो गया है, मगर गंगालाभ की आंकाक्षा तो बनी ही रहती है। मृत्यु के लिए गंगालाभ शब्द विचारणीय है। गंगा से यह लाभ वे ही उठा सकते हैं जो स्थायी तौर पर गंगा के किनारे रहें या अस्थायी रूप से आ कर बस जाएं। मगह के लोगों को मुश्किल से गंगा का लाभ मिल पाता है। इसलिए या तो वे गंगावास करते हैं या जो समर्थ लोग हैं, वे गंगातट पर ला कर शवदाह करते हैं।

तरियानी के संदर्भ में संस्कृत के दो शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। तारण–पु.(सं.) तारने या उद्धार करने की क्रिया, तारने वाला विष्णु, शिव, नौका (इसी का तद्भव रूप तारन है और उसी से तारना शब्द बना है जिस का अर्थ होता है–पार करना, उद्धार करना, भव बंधन से छुड़ाना और तारिणी–वि. स्त्री. (सं.) तारने वाली, सद्गति देने वाली। वैदिक मान्यताओं के अनुसार गंगा के अलावा सद्गति देने वाली या भव बंधन से छुड़ाने वाली दूसरी नदी और कौन है? निर्विवाद रूप से लोग गंगा को तारिणी मानते आये हैं। अतः तरियानी के मूल में कहीं-न-कहीं तारिणी भी है।

रेलवे लाइन को अगर विभाजक रेखा मान लें तो उत्तर में तरियानी का इलाका है और दक्षिण के क्षेत्र को टाल कहा जाता है। बरसात में टाल का यह इलाका फतुहा से बड़हिया तक समुद्र बन जाता है। पानी सूखने के बाद बुवाई होती है और रबी की फसल से पूरा भू-भाग लहलहा उठता है। टाल तो वैसे अंबार या ढेर को कहते हैं। कोयले की टाल, लकड़ी की टाल आदि। मगर वृहत् हिन्दी कोश में अर्थ दिया गया है, पुआल आदि का ढेर, पुंज। यह अर्थ बहुत सटीक है। अनाज ढो कर ले जाने के बाद कुछ दिनों तक ढेर की ढेर पुआल वहाँ रखी जाती होगी। लोग मगह को मोटा और तरियानी को महीन कहते हैं। रहन-सहन, खान-पान, बोलचाल और पढ़ने-लिखने में तरियानी वाले बहुत आगे हैं। कारण केवल समृद्धि नहीं है। गंगा के कारण और राजमार्ग के किनारे बसने की वजह से तरियानी के लोगों का देश-दुनिया के साथ संपर्क बहुत पहले हो चुका था। यातायात के साधन हों तो आदमी क्या नहीं कर सकता है। मगह में केवल धान उपजता है इसलिए वे सुबह शाम दोनों समय चावल खाते हैं। तरियानी में गेहूं के साथ-साथ दलहनें भी होती हैं। गंगा के किनारे वाली जमीन को भीठा कहते हैं। ऊंची होने के कारण इसे भीठा (टीला) कहते हैं। इस जमीन में दो से तीन फसलें होती हैं।

गेहूं, चना, मकई और दलहन के अलावा मिर्च और तंबाकू की भी खूब उपज होती है। तरियानी के प्रायः हर गाँव में शिवाला और ठाकुरबाड़ी है। गाँव अगर छोटा है तो एक शिवाला जरूर है। गाँव अगर बड़ा है तो वहाँ एक से अधिक शिवाला और ठाकुरबाड़ियाँ हैं। ठाकुरबाड़ी—यानी, वह स्थान जहाँ राम-जानकी या राधाकृष्ण की मूर्तियाँ विराजती हों। आमतौर पर लोग ऐसे स्थान को मंदिर न कह कर ठाकुरबाड़ी ही कहते हैं। हो सकता है, यह बंगाल का प्रभाव हो।

पूरे तरियानी में लोग मगही बोलते हैं। थोड़ा-थोड़ा अंतर आता जाता है, मगर मगही का स्वरूप नहीं बदलता। फतुहा की मगही पर नालंदा-हिलसा की मगही का असर दिखता है। बाढ़ से मोकामा तक ठीक है, किन्तु उस के बाद अंगिका की छौंक शुरू हो जाती है। मैथिली वाले इसे मैथिली का प्रभाव कहते हैं। लेकिन यह मगही ही है, थोड़े फर्क के साथ। "आ रहा हूं" के लिए फतुहा से मोकामा तक "आबो हियो, आबो हियौ" बोलते हैं, जबकि बड़हिया से "आबै छियौ" शुरू हो जाता है। भूतकाल को 'गेलियो हल' बड़हिया में 'गैल रहियो/यौ' हो जाता है। भविष्यत काल का 'जइबो/बौ' बड़हिया में ऐसा ही रहता है। लिंगभेद मगही में नहीं है—गइयो चरे हे, बैलों चरे हे। वचन भेद भी नहीं है। 'एक किताब', 'दू सौ किताब'। सड़क के किनारे स्कूल-कॉलेज की तादाद ज्यादा है। हालाँकि लोग अच्छे हैं, मगर न जाने क्यों लोग बाढ़-बड़हिया के लोगों से भय खाते हैं। ये स्वभाव से अक्खड़ होते हैं, इसलिए अड़ियल भी। इन में धौंस जमाने की आदत होती है, किन्तु बड़े विनम्र एवं मिलनसार भी होते हैं तरियानी के लोग।

## संदर्भ


1. तर से तरण, संतरण, तरणी (नाव) आदि शब्द बनते हैं। हिन्दी में तैरना, तिरना क्रियायें तर से व्युत्पन्न हैं। तरना का अर्थ मुक्ति या मोक्ष भी है। भवसागर तरना। तार दिया उद्धार कर दिया। तर यानी पार करने की क्रिया का एक तात्पर्य मोक्ष की कामना भी है।
2. तरियाना तर का क्रियारूप है। तरियान देना यानी, सब से नीचे दबा देना। वैसे तरी का ठेठ देसी अर्थ चपत भी है और तरियाना को चंपतियाना भी कहते हैं।
3. वृहत् हिन्दी कोश-ज्ञानमंडल, वाराणसी।



**हेमंत कुमार हिमांशु**
सहायक आचार्य
शहीद भगत सिंह कालेज, दिल्ली
विश्वविद्यालय

# *सद्गुरु रैदास के चिंतन की प्रासंगिकता*

*—रमेश कुमार*

*प्रभु जी तुम चंदन हम पानी।*
*जाकी अंग-अंग बास समानी॥*
*प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा।*
*ऐसी भगति करे रैदासा॥*

21वीं सदी विभिन्न विचारधाराओं, विमर्शों और उन के उन्नयन की सदी कही जाती है। यह विभिन्न समुदायों के मध्य समानता, भ्रातृत्व और अधिकारों के वर्चस्व का दौर है। 15वीं से 20वीं सदी के दौरान भारत जैसे धर्म प्रधान देश में धार्मिक और सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर सुधार के लिए विभिन्न आंदोलन और वैचारिक संघर्ष हुए। कुल पाँच सौ वर्षों में यहाँ विभिन्न मतावलाम्बियों के उद्भव, आगमन और विकास से ले कर तमाम समुदायों, विचारों और समाजों के विकास को पर्याप्त आधार मिला। यहाँ संप्रदाय, धर्म, जाति और वर्ग संघर्ष के बीच सामाजिक सुधार के प्रणेता के रूप में संत रैदास, कबीर और दादू आदि जैसे तमाम महत्त्वपूर्ण समाज-सुधारक और चिन्तक पैदा हुए। उन्होंने अपना समस्त चिंतन और ऊर्जा पाखंड और अंधविश्वासों से भरे इस जटिल समाज को सुधारने में लगाया। भारत भूमि पर कभी वैदिक चिंतन और विचारधारा, तो कभी बौद्ध, जैन और इस्लाम ने अपनी विचारधारा का प्रचार-प्रसार किया। इन में अपने-अपने वर्चस्व को ले कर आपस में संघर्ष भी चलता रहा। इसी संघर्ष का प्रतिफल यह रहा कि यहाँ विभिन्न विचारधाराओं और धर्मावलम्बियों को अनुकूल आधार मिलता गया और वे फलते-फूलते आगे बढ़ते गए जिस से एक नये समाज का उदय हुआ।

ऐसे समय में कबीर, रहीम, दादू और मलिक जैसे संत कवियों और विचारकों की परंपरा में संत रैदास जैसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिंतक के बारे में पुनर्विचार करना अत्यंत प्रासंगिक लगता है। एक मध्यकालीन संत कवि के विचारों को पुनर्परिभाषित करना आज के वैचारिक-वैमनस्य के दौर की आवश्यकता और समाज की व्यावहारिकता के अनुकूल होगा। अभी तक रैदास के चिंतन को ईश्वरवादी और ब्राह्मणवादी खाँचे में ही फिट करने की कोशिश की जाती है जो कहीं से भी

उपयुक्त नहीं है। कंवल भारती लिखते हैं, ''कबीर और रैदास के बारे में अन्य ब्राह्मणवादी आलोचकों ने बड़े घपले किये हैं। उन्होने इन्हें संत रामानन्द का शिष्य बनाने से ले कर वेदांती तक बना दिया है। उन के व्यक्तित्व का विकृतीकरण तो किया ही है, उन के कृतित्व का भी भरपूर ब्राह्मणीकरण करने की कोशिश की गयी है।'' (संत रैदास एक विश्लेषण, पृ. सं. 7)

इसलिए संत रैदास जैसे चिंतक के बारे में इन दोनों बातों के मध्य वास्तविकता को समझना-समझाना और लोगों तक सही जानकारी पहुंचाना बहुत जरूरी है। रैदास जी का विचार था कि 'हरि का भजे सो हरि का होय' अर्थात, जो ईश्वर की दृष्टि में सब को समान मान कर– जीवन का सिद्धांत बनाता है वही ईश्वर के साथ-साथ समाज में प्रिय बनता है। यहाँ इस का अर्थ यह भी नहीं है कि संत रैदास ईश्वर की बात कह कर वर्णव्यवस्था को आधार दे रहे हैं, बल्कि वे समानता के नए परिप्रेक्ष्य को देखने, समझने और उसे अपनाने पर बल दे रहे हैं और वास्तव में यही सत्य है। समाज में जब भी कोई संत ऐसे विचारों को मूर्तिमान करता है तो उस के विरुद्ध वैचारिक और धार्मिक स्तर पर विरोध की अनुगूंज तेज हो जाती है।

*फल कारन फूले बनराय, उपजे फल तब पहुप बिलाय।*
*ज्ञानहिं कारन कर्म कराय, उपजे ज्ञान तो कर्म नसाय॥*

रैदास के चिंतन में समता, भ्रातृत्व और नवीन समाज के निर्माण की बात मिलती है जो कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के लिए संविधान के परिप्रेक्ष्य में बहुत जरूरी है। समाज में व्याप्त विभिन्न सामाजिक बुराइयों को समय-समय पर दूर करने हेतु अनेक नये विचारों के साथ संत कवि, समाज-सुधारक आदि आते रहे हैं। संत रैदास एक ऐसे ही नवीन और मौलिक समाज की कल्पना की अलख जगा कर अवतरित हुए थे जहाँ किसी भी प्रकार की सामाजिक, सांस्कृतिक बुराइयों के लिए कोई स्थान नहीं था। उन का 'बेगमपुरा' नामक स्थान की कल्पना एक ऐसे ही समाज का चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है जो समता, भ्रातृत्व और विकास की भावना से ओत-प्रोत है। उन के समाज की कल्पना की एक बानगी देखें जो आज भी जन-जन की वाणी पर सुशोभित होता है :

*ऐसा चाहूं राज मैं, जहाँ मिले सबन को अन्न।*
*छोट बड़ो सब सम बसें, रैदास रहे प्रसन्न॥*

आज के पूंजीवादी समाज में जब अमीर-गरीब की खाईं गहरी होती जा रही है तो ऐसे शुद्धता-अशुद्धता की भावना के जन्म होने से ऊंच-नीच के विचार बड़ी तेजी से पनपने लगे हैं। ऐसे में जातिगत भावनाओं का उभरना स्वाभाविक है। इसलिए सामाजिक दृष्टिकोण से ऐसे सामाजिक वातावरण का निर्माण बहुत जरूरी है जहाँ छोटे-बड़े सब एक समान भाव से रहते हों। उन का स्वतंत्र चिंतन है कि ईश्वर के सकारात्मक विचार को आगे बढ़ाया जाए ताकि समाज अपने मूल रूप में समता के विचार से परिपूर्ण हो सके। भारतीय भक्ति भावना में ईश्वर के दो रूपों सगुण और निर्गुण का भेद निर्धारित किया गया है। संत विचारकों ने ईश्वर के निर्गुण रूप को स्वीकार कर के समाज में चेतना जगाने का काम किया है। कबीर के समान ही रैदास भी ईश्वर को अपनी वाणी और मन में स्थान दे कर ही जीवन की समस्याओं से दूर ले जाने का प्रयास करते हैं।

*राम निरंजन छाँड़ि कर करे आन की आस।*
*ते नर जमपुर जाहिंगे सति भाषे रैदास॥*

रैदास का चिंतन स्पष्ट है कि जो राम जनजीवन में व्याप्त हैं, वे कल्पना आधारित नहीं बल्कि जीवनदाता और मुक्तिदाता के प्रतीक हैं। वही सब का कल्याण करते हैं और कर्मों का फल देते हैं। इसलिए संत समाज उसी राम का अलख जगाने का प्रयास करते हैं। आज के समय में यही सच बात है कि उसी राम के विचारों के अनुरूप अपना व्यवहार, सिद्धांत और सोच विकसित करना चाहिए जिस से समाज निरंतर उन्नति-प्रगति करता रहे और जहाँ सभी को अन्न और समता का सम्मान मिले। इसीलिए संत रैदास के चिंतन का सार यही है कि समाज बुराइयों से मुक्त हो और सभी सुखी हों।

*रैदास इक ही नूर ते जिमि उपज्यो संसार।*
*ऊंच नीच किह बिध भये ब्राह्मन और चमार॥*

मनुष्य के उद्भव का आधार एक रहा है। इसलिए संत रैदास ने कहा कि एक नूर अर्थात वीर्य से सम्पूर्ण संसार का निर्माण होता है तो वहाँ ऊंच-नीच और ब्राह्मण-चमार का भेद कैसा। जिस ईश्वर ने समतवादी दृष्टि से समाज और संसार का निर्माण किया तो वहाँ भेदभाव का आधार क्यों? इसलिए संत रैदास का स्वप्नदर्शी समाज किसी भी प्रकार के भेदभव से परे होगा। संत जी हमें आज भाग्य, जन्म-कर्म के अनुसार फल-प्राप्ति, भौतिकवादी पाखंडों से मुक्ति के लिए मन की शुद्धता और श्रम की प्राथमिकता प्रदान करते हैं। वे आज के भौतिकवादी सुख-सुविधा में डूबे रहने वाले समाज से कहते हैं–'मन चंगा तो कठौती में

गंगा'। यह सूत्रवाक्य निश्छल भाव से प्रत्येक व्यक्ति को दुख रहित बनाने की गारंटी देता है। जाति और ऊंच-नीच के भेदभाव के चलते आज मनुष्य-मनुष्य का दुश्मन बना हुआ है।

*जाति-पांति के फेर में उरझी रह्यो सब लोग।*
*मानुषता को खात है जांत-पांत का रोग॥*

ऐसा नहीं है कि गुरु रैदास का चिंतन-दर्शन सिर्फ किसी जाति, व्याक्ति या किसी बेगमपुरा की कल्पना तक ही सीमित था। उन के चिंतन में सम्पूर्ण विश्व की चिंता साफ झलकती है, जब वे कहते हैं–'ऐसा चाहूं राज मैं, जहां मिले सबन को अन्न' तो साफ है कि वे उस वसुधैव कुटुंबकम और विश्वग्राम की संकल्पना को सच होते हुए देखना चाहते हैं। ऐसे स्वप्नदर्शी और शांतिप्रिय समाज की कल्पना बहुत कम चिंतकों में देखने को मिलती है।

हमारे वर्तमान समाज में आज भी एक बड़ा घिनौना यथार्थ मौजूद है, वह है–अन्धविश्वास तथा सामाजिक रूढ़ियाँ जो मध्यकाल से ले कर आज तक वैसे की वैसे ही हैं। इन बुराइयों से लड़ने के लिए मध्यकाल में एक भी ऐसे संत कवि नहीं थे जिन्होंने धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक रुढियों के मकड़जाल पर आक्षेप न किया हो।

*का मथुरा, का द्वारका, का काशी हरिद्वार।*
*रैदास खोजा दिल अपना, तऊ मिला दिलदार॥*

रैदास के इन दोहों की तह में जायेंगे तो हम देखेंगे कि पहले की अपेक्षा आज धार्मिक कट्टरता का वातावरण और पाखंड ज्यादा मजबूत हुआ है। आज धार्मिक स्थल, उस के विविध रूप, धार्मिक उद्देश्यों को पूरा करने के बहुविध तरीके और धार्मिक पर्यटन स्थलों के रूप में ज्यादा लोकप्रिय होते जा रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप धर्म की पकड़, उसे जुड़ा पाखंड और मबजूत होता जा रहा है। जहाँ एक ओर विज्ञान-प्रौद्यगिकी के विकास ने ईश्वर और धर्म से जुड़ी वास्तविकता को जानने-समझने में बुनियादी मदद की, वहीं समय के साथ-साथ टेक्नालजी ने धर्म के पाखंडों को और व्यापक बनाने में नये तरीके भी विकसित किये। स्मार्ट टेक्नालजी ने कम्प्युटर आधारित धर्म और संस्कृति के स्वरूप को फैलाने और उन्हें ज्यादा लोकप्रिय बनाने में मदद किया। यह कहीं न कहीं अंधविश्वास को बढ़ाने की दिशा में कारगर साबित हुआ। 20वीं सदी में जब समाज अंधकार और जड़ता से ग्रसित था, जिस समय ब्रिटिश शासन भारत से अपने लिए संसाधन बटोरने में लगा हुआ था, उस समय समाज की मुक्ति की बात करने के लिए दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकनंद जैसे अनेक समाज सुधारकों और चिंतकों ने अपना योगदान दिया। वास्तव में, आज के युवा वर्ग के लिए तीर्थाटन का कोई महत्त्व पहले से कहीं ज्यादा बढ़ गया है। इस से एक बात तो साफ हो जाती है कि समाज में अन्धविश्वास और जड़ता समाप्त होने के बजाए धीरे-धीरे बढ़ती ही जा रही है।

रैदास ही नहीं, सभी संत कवियों का दर्शन मौजूदा जटिल समाज के लिए बहुत बड़ी पूंजी है। इस पर जितना चिंतन-मनन और विश्लेषण किया जाए वह कम ही है। संत साहित्य और विचारधारा सिर्फ भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में आज एक मार्गदर्शक के रूप में हमारे समक्ष मौजूद है। आवश्यकता सिर्फ उन विचारों और दर्शनों को व्यावहारिक जीवन में उतारने और उन्हें पहचानने की है।

हमारा समाज आज भी जातियों, वर्गों और वर्णों के ऐसे मकड़जाल में फंसा हुआ है कि अपने सामाजिक अस्तित्व को खोता जा रहा है। मध्यकालीन कवि रैदास इन सब से बहुत पहले अपने चिंतन में इसी तथ्य को समतामूलक समाज का आधार दे कर पाठ पढ़ा रहे थे। अपने समाज की भेदभाव आधारित स्थिति से क्षुब्ध हो कर ये बात कहते हैं :

*जाति कामिनी, पाति कामिनी ओछो जन्म हमारा।*
*राजा राम की सेव न कीनी कहि रविदास चमारा॥*

रैदास जी का मानना था कि जब तक आप ईश्वर के समानता के विचार को नहीं अपनाते तब तक ईश्वर भी आप को नहीं अपनाता। यदि देखा जाए तो ईश्वर के समक्ष सब लोग समान हैं, यही बात हर व्यक्ति के जुबान पर होती है लेकिन अधिकतम लोग इसे जीवन का अंग नहीं मानना चाहते। कथनी और करनी का भेद यहीं स्पष्ट हो जाता है। दरअसल, रैदास जैसे चिंतक इसी अंतर को पाटने की कहते हैं।

निर्गुण संतों के तत्वज्ञान और उन के दर्शन को समझने में आज के समीक्षकों ने बहुत मेहनत लगायी है। लेकिन जितनी उपलब्धि होनी चाहिए उतनी होने में कठिनाई रही है। इस के पीछे कहीं जातिगत मानसिकता, कहीं धार्मिक और कहीं सांस्कृतिक भेदभाव की बात सामने आती है। रैदास की स्थापना के पीछे उन का निम्न वर्ग होना बहुत बड़ी बाधा मानी जाती है। कंवल भारती का मानना है–''भारत का सब से बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ ब्राह्मणों को बुद्धिजीवी का पर्याय माना जाता है। यह इस देश में बहुत बड़ी साजिश हुई है। इस साजिश के तहत ही ब्राह्मण यहाँ हर क्षेत्र का ठेकेदार है..... ।'' (वही)।

रैदास अपने सभी संत कवियों के दार्शनिक चिंतन

के समीप ठहरते हैं। वे ईश्वर एवं आत्मा दोनों को एक ही तत्व में विलीन हो जाते हुए देखते हैं :

*पहले ज्ञान का किया चांदना, पाछे दिवा बुझाई।*
*शून्य सहज में दोऊ त्यागे, राम कहूं न खुदाई॥*

यह विशुद्ध रूप से निर्गुण संतों का सामाजिक सुधार हेतु स्वतः प्रारंभ आन्दोलन था जिस में दर्शन और आध्यात्म दोनों का ही मेल दिखाई देता है। आध्यात्म के बहाने संत समाज ईश्वर और मनुष्य के भावात्मक संबंधों के आधार और उस के अन्तःसंबंधों को खोजने का प्रयास करता है और दूसरी ओर समाज की बुराइयों, धार्मिक अंधविश्वासों को दूर करने के जटिल प्रयास में लगा रहता है।

वास्तव में भारत का मध्यकालीन चिंतन, विचारधारा और आध्यात्मिक दर्शन के संबंध में स्वर्णकाल का दौर रहा है जहाँ ईश्वर, मनुष्य, आध्यात्म-जगत और सांसारिक जटिलताओं को समझने का हर संभव प्रयास किया गया और जड़ता को तोड़ने की कोशिश भी की गयी। यही प्रयास आगे चलकर 19-20वीं सदी में तमाम तरह के हो रहे सामाजिक-सुधार आन्दोलनों में दिखाई देता है। लेकिन आश्चर्यजनक स्थिति आज यह है कि धर्म, जाति, क्षेत्र, वर्ण और सामाजिक विविधता के आड़ में जड़ता और अंधविश्वास को बढ़ावा मिल रहा है। अतः ऐसे समय में संत रैदास के चिंतन और उन्के दर्शन को ले कर सामाजिक सुधार की दिशा में गंभीर कदम उठाया जाना चाहिए।

संतों का दर्शन, उन के तात्विक चिंतन और उन की सूक्ष्म विचार-शैली की प्रासंगिकता संभवतः इन्हीं वैचारिक आन्दोलनों में छिपी है जिस के माध्यम से समाज के भीतर पैठ बना चुकी सामाजिक-धार्मिक जड़ताओं को समाप्त किया जा सकता है।

*हरि सा हीरा छांड के, करै आन को आस।*
*ते नर जमपुर जाहिंगे, सत आष रैदास॥*

दरअसल, कूपमंडूकता कहीं अलग दुनिया से नहीं आती बल्कि इस दुनिया के लोगों के दिमाग में भरी जाती है जिसे वे लोगों में बांटते चलते हैं और यही वर्षों तक ऐसे ही बनी रहती है। और फिर, शिकायत करने पर उल्टे स्वयं को ही सुनना पड़ता है। इसीलिए संत जी के ये विचार आधुनिक जमाने में ज्यादा लोकप्रिय और प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। रैदास के बेगमपुरा की कल्पना वास्तव में एक सुसभ्य और शिक्षित समाज की कल्पना है, लेकिन यह किसी यूटोपिया की कल्पना से दूर नहीं। यह एक ऐसे समाज की कल्पना है जहाँ सामाजिक समानता और विचारों का समन्वय प्रतिलक्षित होता है। यहाँ प्रेम, भ्रातृत्व और समता सब कुछ मौजूद है लेकिन वास्तविकता में जनता इसी से अनभिज्ञ है और इसे ही स्वीकार नहीं करना चाहती। इसलिए समस्याएं वर्षों से ले कर आज तक जस की तस बनी हुई है।

जहाँ तक बात रैदास के चिंतन का सवाल है, यदि हम उन सवालों को गंभीरता से अध्ययन करें और उसे प्राथमिक स्तर से समाज के लिए जरूरी बनाएं तो यह तय है कि समाज में समता और भ्रातृत्व के विचार की स्थापना में पूरा योगदान मिलेगा। हम प्रत्येक वर्ष ऐसे महानुभावों का जन्मदिवस मानते हैं और अगले दिन उन्हें भुला देते हैं। लेकिन जरूरत इस बात की है कि कैसे रैदास के चिंतन का बीजारोपण कर के उसे वृक्ष की भांति जन-जन में रोपित और पोषित किया जाए। यह सब से जरूरी है आज के समय में। संत रैदास शाश्वत चिंतक हैं—अर्थात, वे सदा ही प्रासंगिक बने रहेंगे, इस में कोई संदेह नहीं है।

## संदर्भ


1. संत रैदास—एक विश्लेषण, कंवल भारती, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1985
2. सांस्कृतिक रूपान्तरण और संतगुरु रविदास, संपा. डा. राजेश पासवान, विक्टोरियस पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
3. सत्याग्रह डॉट स्क्रॉल डॉट इन, एक ऑनलाइन लेख
4. रैदास वाणी, डा. शुकदेव सिंह, 2003, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. अंबेडकर और हिन्दुत्व की राजनीति, राम पुनियानी
6. संत रविदास रचनावली, ममता झा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
7. संत रविदास, इंद्रराज सिंह, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
8. संत रैदास, योगेंद्र सिंह, 2015, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली।



**रमेश कुमार**
301, हिन्दी सेल,
जे. एन. यू. नई दिल्ली
मो. 99999895435

# आदिवासी कविता के समक्ष चुनौतियाँ

*–शोधार्थी : मोनिका मीणा*
*–शोध-निर्देशक : प्रो. चंद्रशेखर*

प्रत्येक समाज से संवाद करने का बेहतर माध्यम उस समाज का साहित्य होता है। साहित्य के अंतर्गत समाज की आशा-आकांक्षा, संतोष-असंतोष, संघर्ष और विद्रोह के साथ उस समाज की चुनौतियाँ और उन चुनौतियों के समाधान आदि स्वर उपस्थित रहते हैं। साहित्य के माध्यम से हम किसी समाज विशेष की यथार्थ समस्याओं के वास्तविक स्वरूप से परिचित हो कर सटीक समाधान तक पहुंच सकते हैं। मुख्य धारा से भिन्न आदिवासी समाज की भी अपनी विशेषताओं के साथ-साथ अनेक चुनौतियाँ रही हैं। ये चुनौतियाँ ही आदिवासी साहित्य की मुख्य स्वर रही हैं।

आदिवासी समाज प्रकृति का एक अभिन्न हिस्सा है। यह समाज जल, जंगल और जमीन को अपना पुरखा मानता है। बढ़ते औद्योगीकरण और वर्चस्ववादी सत्ताओं ने प्रकृति के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है। इस कारण इस समाज का अस्तित्व और अस्मिता भी संकट में है। वंदना टेटे का काव्य संग्रह 'कोनजोगा' के अंतर्गत कोनजोगा कमडारा प्रखंड में स्थित खड़िया सांस्कृतिक पहचान से जुड़ा हुआ एक पहाड़ है। तथाकथित विकास के कारण यह कोनजोगा पहाड़ टूट रहा है और इस के साथ-साथ आदिवासी समाज की संस्कृति भी नष्ट हो रही है।

*मिट गई जैसे/बगल की टोकरी*
*कोनजोगा मिट जायेगा/और तुम*
*ओ खड़िया लोग/तुम्हारी धरोहर भी मिट जायेगी।*[1]

वर्तमान समय के संदर्भ में आदिवासी समाज की मुख्य चुनौती है–बाहरी समाज की घुसपैठ। इस घुसपैठ के कारण ही आदिवासी अस्मिता, संस्कृति, भाषा और दर्शन पर आए दिन हमले हो रहे हैं।

*तुम तो आये ही/साथ आयी तुम्हारी*
*भाषा संस्कृति और दर्शन भी/और*
*लील गये आहिस्ता-आहिस्ता*[2]

इस पूंजीवादी युग में तथाकथित विकास ने आदिवासियों के समक्ष पहचान का संकट, बेरोजगारी, श्रम का शोषण, अपने मूल क्षेत्र से बेदखल और जबरन धर्मांतरण जैसी चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं।

वर्तमान समय में औद्योगिकीकरण के कारण उजड़ते हुए जल, जंगल, जमीन, पर्वत, पशु-पक्षी के साथ आदिवासी समाज का जीवन भी उजड़ता चला जा रहा है। तथाकथित विकास ने पृथ्वी को उस छोर पर ला कर खड़ा कर दिया है जहाँ पर्यावरणीय समस्याएं विकराल रूप धारण किए हुए हैं। 'हम भी जा रहे हैं' कविता में वंदना टेटे कहती हैं–

*हम जा रहे हैं/जैसे चले गये पुरखे*
*जैसे जा रही है ये धरती/सब की पहुंच से बाहर*
*धीरे धीरे हर क्षण।*[3]

महात्मा गांधी का कथन है कि पृथ्वी मनुष्य की जरूरतों को तो पूरा कर सकती है परंतु लालच को नहीं। यही सीख हिंदी आदिवासी कविता भी देती है कि मानव का अस्तित्व प्रकृति से है। मनुष्य की लालची प्रवृत्ति ने प्राकृतिक संसाधनों का इस हद तक दोहन किया है कि आज ग्लोबल वार्मिंग, अनावृष्टि और अतिवृष्टि जैसी समस्याएं विकराल रूप धारण कर चुकी हैं। ये कविताएं मनुष्य की इसी लालची भावना का विरोध करती हैं। जसिंता केरकेट्टा 'सभ्यताओं के मरने की बारी' कविता में कहती हैं–

एक दिन जब सारी नदियाँ/मर जायेंगी आक्सीजन की कमी से/तब मरी हुई नदियों में तैरती मिलेंगी/सभ्यताओं की लाशें भी।[4]

आदिवासी समाज प्रकृति के प्रति लालच की भावना नहीं, बल्कि जरूरत आधारित वस्तुओं के उपयोग की भावना रखता है। यह जल, जंगल और जमीन पर अपना मालिकाना हक नहीं जताता, बल्कि इन्हें अपना पुरखा मानकर आत्मीय संबंध के साथ देखभाल व रखरखाव करता है। प्रकृति से अलगाव के पश्चात यह समाज अपने मूल रूप में जीवित नहीं रह पायेगा। विस्थापित होती हुई प्रकृति के साथ-साथ आदिवासी समाज भी विस्थापित हो रहा है। आदिवासी युवा कवि अनुज लुगुन 'बाघ और सुगना मुंडा की बेटी' कविता में यह दर्शाते हुए लिखते हैं –

सुगना मुंडा जंगल का पूर्वज है/और जंगल सुगना मुंडा का/....दोनों सहजीवी थे/दोनों के लिए मृत्यु का कारण था/एक दूसरे से विलगाव।[5]

आदिवासी समाज पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि यह समाज विकास विरोधी है। हिंदी आदिवासी कविता उसी विकास को कटघरे में खड़ा कर रही है जो इन के जल, जंगल और जमीन को उजाड़ कर आगे बढ़ रहा है। इसी विकास की आड़ में उजाड़े गये गाँवों, जंगलों एवं मारे गये निर्दोषों का हिसाब मांगते हुए जसिंता केरकेट्टा 'हमारा हिसाब कौन देगा' कविता में इस वैश्वीकरण के दौर में उन के मूल धर्म और संस्कृति पर हो रहे आक्रमण की ओर इंगित करते हुए लिखती हैं–

*अपना अपना धर्म लेकर/इधर क्यों चले आते हो?*
*आते हो तो धर्म के साथ उन की संस्कृति पर बुलडोजर क्यों चलाते हो?*[6]

तथाकथित विकास के कारण प्राकृतिक संसाधनों के निरंतर हो रहे दोहन के विरोध में आदिवासी समाज द्वारा समय-समय पर जोरशोर से विरोध-प्रतिरोध भी किया गया है जिस के कई उदाहरण उपलब्ध हैं।

मुख्यधारा का समाज जाति व्यवस्था पर आधारित है। इस के विपरीत, आदिवासी समाज में किसी प्रकार का कोई वर्गीकरण व भेदभाव नहीं है। यहाँ सामूहिकता, सह-अस्तित्व, सहजीविता और समानता आधारित दर्शन है। परन्तु जब विस्थापित आदिवासी समाज मुख्यधारा में शामिल होता है, तब उन के सामने पहचान से संबंधित अनेक चुनौतियाँ उभर कर आती हैं। उन की पहचान जाति प्रमाण-पत्र या चौथे नागरिक के रूप में ही की जाती है।

आदिवासी समाज धार्मिक चुनौतियों से भी जूझ रहा है। इस समाज का मूल धर्म प्रकृति का ही एक हिस्सा है। यहाँ मुख्यधारा के समाज की भाँति पाप, मुक्ति और स्वर्ग-नरक जैसी अवधारणा नहीं है। इन पर बाहरी समाज के धर्म और दर्शन थोपे जा रहे हैं। जंसिता केरकेट्टा 'ईश्वर और बाजार' नामक कविता में लिखती हैं–

मगर हम यह नहीं जानते थे/कि ईश्वर के साथ उन के पास अदृश्य हथियार भी हैं/जिन से करते हैं वे पूरी दुनिया पर हमले/जहाँ भी जमीन, जंगल और तेल है।[7]

न्यायप्रिय, नैतिकता व सामूहिकता के साथ जीवन यापन कर रहे इस समाज के सामने बाहरी समाज की चालाकियों व छलावे ने कई चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं।

*भले की बात करते-करते/कर देते हैं*
*तुम्हारे साथियों की हत्या/भले की बात करते हुए*
*तुम्हारी जमीन से तुम्हें करते हैं बेदखल/भले की बात करते हुए/शहरों की ओर खदेड़ते हैं तुम्हें.../*
*तुम्हारी लड़की के/भले की बात करते-करते/*
*फिर कर देते हैं उस का बलात्कार।*[8]

मुख्यधारा के समाज द्वारा भिन्न-भिन्न तरह के वैचारिक हमले भी आदिवासी समाज के समक्ष खड़ी चुनौतियों में से एक हैं। आदिवासी समाज स्वयं में एक सम्पन्न समाज है। परंतु इतिहास एक विशेष दृष्टिकोण से रचा गया है जिस में आदिवासी समाज को या तो शामिल ही नहीं किया गया, अगर कहीं किया भी गया है तो हाशिए के समाज के रूप में ही। आदिवासी समाज की संघर्षगाथा, विजय-गाथा, संघर्षों के गवाह यहाँ अनुपस्थित हैं। इस तरह के वैचारिक हमलों के विरुद्ध महादेव टोप्पो 'रचने होंगे ग्रंथ' में आह्वान करते हैं–

इस से पहले कि वे पुनः तुम्हारा/अपने ग्रंथों में बंदर,
भालू या अन्य किसी जानवर/के रूप में करें वर्णन तुम्हें
अपने आदमी होने की/ परिभाषा खोजनी होगी।[9]

वर्तमान समय के सन्दर्भ में आदिवासी समाज की मूल भाषा का लुप्त होना एक महत्वपूर्ण व मुख्य चुनौती बनी हुई है। किसी भाषा का लुप्त होना उस वर्ग, समाज, देश और विश्व के लिए सब से बड़ी क्षति है। आदिवासी भाषा का लुप्त होने का अर्थ है–एक समुदाय विशेष के विशाल ज्ञान-भंडार की परंपरा जिस में मुख्य रूप से औषधीय पौधों, वनस्पतियों और जीवों के ज्ञान का खजाना है। इस के साथ सांस्कृतिक विविधता का भी लुप्त हो जाना है। भारत में आदिवासी भाषाओं के विलुप्त होने के संबंध में भाषाविद् विशेषज्ञों का कहना है कि सिक्किम की माँझी भाषा, पूर्वी भारत की महली भाषा, अरुणाचल प्रदेश की कोरो, गुजरात में सिंधी और असम में दिमासा भाषा विलुप्त होने की कगार पर है।

आदिवासी भाषाओं के विलुप्त होने का कारण लिखित लिपि का उपलब्ध न होना, मातृभाषाओं में शिक्षा की सामग्री व शिक्षक दोनों का अभाव, बाहरी समाज की भाषाओं का बढ़ता दबाव आदि है। इन समस्याओं को ध्यान में रख कर ओड़िशा सरकार ने 2006 में बहुभाषी कार्यक्रम भी चलाया। इस के साथ ही संविधान की आठवीं अनुसूची में दो आदिवासी भाषा संथाली और बोडो को शामिल किया गया।

मूल आदिवासी भाषाओं में साहित्य, नाटक और फिल्म आदि रच कर तथा शिक्षा व संचार की भाषा को माध्यम बना कर लुप्त होती भाषाओं के पुनरुद्धार में महत्वपूर्ण सहायता मिल सकती है जिस को रेखांकित करते हुए महादेव टोप्पो अपनी कविता 'प्रजातंत्र में' लिखते हैं–

*मरती अपनी भाषा की खातिर*
*मांगेंगे तुम्हारे अखबार में दो कालम भी।*[10]

यूनेस्को ने 2500 लुप्त और लुप्त होने के खतरे में भाषाओं की सूची बनायी है जिस में सब से अधिक संख्या भारत की भाषाओं की है। भारत की 197 भाषाएं इस खतरे की सूची में हैं जिस में 89 भाषाएं केवल उत्तर पूर्वी क्षेत्र की हैं जहाँ आदिवासियों की संख्या सर्वाधिक है। वर्तमान समय में आदिवासी समाज के समक्ष संस्कृति के संरक्षण की चुनौती मुख्य बनी हुई है। आदिवासी संस्कृति बाहरी संस्कृतियों को प्रभावित करने की अपेक्षा स्वयं ही प्रभावित हो कर दूषित होती चली जा रही है। आदिवासी समाज में लिंग आधारित भेदभाव नहीं है, परंतु सांस्कृतिक संक्रमण व दार्शनिक संहार के कारण स्त्री अस्मिता जैसे प्रश्न उठने आरंभ हो गए हैं।

*हम भी सभ्यता के भ्रम में करने लगे हैं*
*बेटियों की पहचान बेटों से अलग*[11]

आदिवासी स्त्री अपने विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में प्रकृति के साहचर्य में खेत-खलिहान, पहाड़ों पर संघर्षशील जीवन यापन कर रही है, परंतु वर्चस्ववादी सत्ता की सुविधाभोगी प्रवृत्ति के कारण अपने मूल क्षेत्र से बेदखल हो कर उन्हें बाहरी समाज में नौकरानी जैसे कार्य करने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। इस के साथ ही इन्हें शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ना का शिकार बनाया जा रहा है। किसी भी समाज के विकास के लिए शिक्षा एक अनिवार्य घटक है। आदिवासी समाज के समक्ष शिक्षा संबंधी अनेक चुनौतियाँ–जैसे, आर्थिक समस्या, मूल भाषा में सामग्री की अनुपलब्धता व संसाधनों का अभाव आदि हैं। महादेव टोप्पो की 'आदिवासी गांव से इंटर पास छात्र का सपना' कविता में एक आदिवासी लड़के का इंटर के बाद बी.ए. पास करने का सपना है। इस दौरान आर्थिक तंगी एक बड़ी चुनौती के रूप में उभर कर आती है।

आदिवासी समाज को विकास के पथ पर लाने के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर विभिन्न योजनाएं, नीतियां व कानून बनाए जा रहे हैं। स्वास्थ्य संबंधी चुनौतियों से निपटने हेतु अस्पतालों का निर्माण करवाया जा रहा है, परंतु इन योजनाओं की जमीनी हकीकत कुछ और ही है जो कविता में इस प्रकार से उभर कर आयी है–

*सलन की बीवी/पेट से है*
*अस्पताल जाना है/उसी अस्पताल में जो तुम ने*
*हमारे लिए बनाया है/और जहाँ कि/दवा डॉक्टर नर्स*
*कुछ भी नहीं है।'*[12]

अतः, वर्तमान समय के संदर्भ में देखें तो आदिवासी

समाज पर हो रहे आक्रमणों का मूल कारण बाहरी घुसपैठ है जिस के कारण इन्हें अपने मूल क्षेत्र से विस्थापित होना पड़ रहा है। संस्कृति और दर्शन पर निरंतर हो रहे अतिक्रमण के कारण यह समाज अपनी मूल पहचान को बचाए रखने की चुनौती से जूझ रहा है। महादेव टोप्पो लिखते हैं कि 'जंगल पहाड़ के पाठ संग्रह की अधिकांश कविताएं जहाँ एक ओर विकास, पूंजीवाद, विस्तारवाद, उपभोक्तावाद, बाजारवाद, अंधराष्ट्रवाद, सामंतवाद, श्रेष्ठतावाद और नस्लवाद की विद्रूपताएं झेलते आदिवासियों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषिक और राजनीतिक समस्याओं आदि को लोकतंत्र के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने, परखने का प्रयास करते हैं, वहीं दूसरी ओर ये कविताएं धरती, मनुष्य और मनुष्यता बचाने के लिए चिंतित और बेचैन भी नजर आती हैं।[13]

वैश्वीकरण के युग में तथाकथित विकास के कारण इन चुनौतियों ने विकराल रूप धारण कर लिया है। हिंदी आदिवासी कविता केवल इन चुनौतियों का ही वर्णन नहीं करती, बल्कि इन चुनौतियों से निपटने का रास्ता भी दिखाती है। आदिवासी समाज के अंतर्गत ऐसे साक्ष्य भी उपलब्ध रहे हैं जिन्होंने इन चुनौतियों से निपट कर समाज में अपनी एक अलग पहचान बनायी है। वर्तमान में प्रथम आदिवासी राष्ट्रपति होने के साथ प्रथम आदिवासी महिला राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू इस का सब से अच्छा उदाहरण हैं। समकालीन हिंदी आदिवासी कविता आदिवासी समाज के यथार्थ को प्रकट तो करती ही हैं, साथ ही समय के साथ क्या-क्या बदलाव इस समाज में हो रहे हैं, शोषण, दमन, उत्पीड़न के रूप में क्या कुछ परिवर्तन आया है, इन से भी रूबरू कराती हैं। 'तुम' और 'हम' का संवाद प्रस्तुत करती हुई ये कविताएं दर्शाती हैं कि आदिवासियों के विद्रोह का कारण किसी व्यक्ति, समाज पर शासन करना नहीं, बल्कि स्वयं के अस्तित्व को बचाए रखना है।

## संदर्भ


1. वंदना टेटे, कोनजोगा, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, सरहुल, 2015 पृ. 94
2. वही, पृ. 76-77
3. वही, पृ. 95-6
4. जसिंता केरकेट्टा, ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2020, पृ. 36
5. अनुज लुगुन, बाघ और सुगना मुंडा की बेटी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017
6. जसिंता केरकेट्टा, ईश्वर और बाजार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2020, पृ. 16
7. वही, पृ. 20
8. वही, पृ. 68-9
9. महादेव टोप्पो, जंगल पहाड़ के पाठ, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2017, पृ.14
10. वही, पृ. 22
11. अनुज लुगुन, बाघ और सुगना मुंडा की बेटी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017
12. वंदना टेटे, कोनजोगा, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, सरहुल, 2015 पृ. 71
13. महादेव टोप्पो, जंगल पहाड़ के पाठ, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2017



शोधार्थी - **मोनिका मीणा**
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
शोध-निर्देशक - **प्रो. चंद्रशेखर**
महाराजा अग्रसेन कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

# *वंचितों की यह चिंता निराधार तो नहीं...*

*–रश्मि नरताम*

*कुएं तालाब में बदलने दो/दीये को मशाल में बदलने दो।*
*मैं मुंतमईन हूं/ सुबह को हम भी पहुंचेंगे–*
*चाल धीमी है/ तो भूचाल में बदलने दो।* **श्यौराज सिंह 'बेचैन'**

हमारे समाज को ऐसी कहानियाँ पसंद हैं जिन का प्रारम्भ चाहे कितना ही दुखद क्यों ना हो परन्तु उस का अंत हमेशा सुखद ही होना चाहिए। पर, बेचैन जी को बचपन में ना किसी सुख की कोई उम्मीद थी ना सुखद अंत की। उम्मीद टिकी थी तो बस उन की अथाह और अडिग हिम्मत पर, पढ़-लिख जाने की चाहत पर, उन के अथक परिश्रम पर और उन के हार न मानने वाले हौसले पर :

*क्योंकि मैं/एक व्यक्ति नहीं/पूरी दलित चेतना हूं/*
*बहिष्कृत भारत की/रौंदी गयी आत्मा हूं/*
*तिरस्कृत समाज की/बाँटी गयी वेदना हूं।*[1]

पढ़-लिख कर बेचैन जी को किन लोगों के बीच पहुंचना था? उन्ही लोगों के बीच जो शिक्षा और संसाधनों पर केवल अपना हक समझते थे। बावजूद इस के, बेचैन जी को आगे आना था।

*साहित्य में देश की संप्रभुता का सवाल/*
*देश की स्वतंत्रता, अक्षुण्णता का सवाल/*
*आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान का सवाल/*
*देश की मुक्ति और प्रगति का सवाल/*
*देश की गरिमा और एकता का सवाल/*

*साँस्कृतिक विविधताओं के फलने-फूलने का सवाल/जब*
*उठता है, दब जाता है/*
*मच जाता है बवाल।"*[2]

दलितों और स्त्रियों को मनुष्य के रूप में स्वीकारे जाने से इन्हें एतराज है क्योंकि इन के मनुष्य होने की चेतना यदि जागृत हो गयी तो इन्हें मुफ्त के गुलाम मिलने बन्द हो जायेंगे। लेकिन बेचैन जी गुलामी में बने रहने से इनकार कर देते हैं। खुद के लिए भी और अपने समाज के लिए भी। उन के हौसले का पता चलता है जब वे लिखते हैं–"विद्रोह होना ही बड़ी बात नहीं है। विद्रोह का स्वरूप क्या है और वह सामाजिक अग्रगति में कितना सहायक है यह बड़ी बात है।"[3] बेचैन की कविताएं तमाम वर्चस्ववादी सत्ताओं पर प्रहार करती हैं। वर्ण व्यवस्था के पोषक अच्छी तरह से जानते हैं कि जातिगत भेदभाव समाज में कितने गंभीर परिणाम उपस्थित करते हैं। इस व्यवस्था में पेट पालना मुश्किल हो जाता है। इस में भूखी माँ और भूखे बच्चे के लिए चाँद कोई सुदंर खिलौना नहीं बल्कि रोटी की शक्ल याद दिलाता एक तकलीफ भरे सपने का टुकड़ा भर होता है जो कभी आधा तो कभी पूरा ही गायब रहता है। अपने पूर्ण वृत्त में वह पूर्णिमा की तरह दूभर है खाली पेट और आशा विहीन सूनी रातो को चाँद अपने उजाले में और भी लंबा बनाता जाता है–"सिसक रहा चाँद अब/तड़प रही है चाँदनी/गली-गली दरिद्रता/सुना रही है रागिनी।"[4] चूल्हे की आग और पकते अन्न की भाप से दूर, यह चाँद दलितों के लिए तो कभी सुन्दरता का रूपक न बन सका, न प्रेमिका की याद दिला सका। इस तरह आजादी का सूरज भी सब के हिस्से में नहीं उगा।

बेचैन जी लिखते हैं–"पर तुम्हारा साहित्य/रस, छन्द, अलंकार, सौन्दर्य/क्या बन सका है/तुम्हारे मवेशी जैसे सड़े विचारों, बिगड़े आचारों से/इन से कुछ भी नहीं सधता/न इंसानी बंधुत्व, न भाईचारा न प्यार/न तो परिवर्तन/और न सुधार।"[5] श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताएं आप को बताती हैं कि मुख्यधारा की सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं से दलित कविता की सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। किसी भी विचारधारा की पृष्ठभूमि एकाएक तैयार नहीं होती उसे अपने व्यवहारगत रूप में आने में एक लम्बा समय लगता है। दलित कविता का सौंदर्यशास्त्र बुद्ध-कबीर आदि संतों के सत्य, अहिंसा, शान्ति, प्रज्ञा, करुणा और शील जैसे परिवर्तनगामी विचारों का अनुशीलन करता है। डा. अम्बेडकर और जोतिबा फुले आदि जैसे समाज सुधारकों की ज्ञानात्मक व रचनात्मक चेतना को आधार बना कर समता, स्वतंत्रता, न्याय और भाईचारे को स्थापित करने की पैरवी करता है।

दलित कविता को गाली-गलौच की भाषा की कविता, अश्लील कविता कहा जाता रहा है। तब, बेचैन जी कहते हैं कि यह भोगे हुए यथार्थ की कविता है। भाषा एक तरफ गुलाम बनाने का साधन है तो दूसरी तरफ गुलामी से आजाद कराने का भी साधन है। भाषा की राजनीति के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है–"भारत में कोई कितना भी विद्वान हो/गुजरने से पहले/जात पर जरूर जाता है/गोया यही शाश्वत नियम हो/किसी कट्टर या उदार को/प्रतिगामी और प्रगतिशील को/गरीब और आमीर को/ब्राह्मण और अछूत को/आदमी का लिखा आदमी के काम/नहीं आने देना है/यही उस को शब्दहीन भाषा में/कहना है।"[6] मुख्यधारा का साहित्य कहता है कि साहित्य समाज का दर्पण है। परन्तु बेचैन कहते हैं कि दर्पण की भी तो अपनी सीमाएं हैं। वह केवल उतना ही प्रत्यक्ष करता है जितना उस के सामने है, बाकी बचे हुए परिदृश्य का क्या? जो उस की परिधि से बाहर है–"दरके हुए दर्पण में/शक्ल देख रहा हूं/मैं आज की आँखों में ही/कल देख रहा हूं।"[7] कई बार यह भी सवाल उठाया जाता है कि दलित साहित्य को क्या साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है? बेचैन जी का मानना है कि कल्पना शक्ति के बिना कोई साहित्य अपने सुन्दर रूप में नहीं लिखा जा सकता है। परन्तु, दलित साहित्य में कल्पना केवल रचनात्मक स्तर तक ही कार्य करती है। लोक साहित्य इस का उदाहरण है। दलितों का जीवन सदैव नियति की प्रयोगशाला रहा है जहाँ कलात्मकता के लिए स्थान कम है।

श्यौराज सिंह 'बेचैन' की कविताएं याद दिलाती हैं कि वंचितों की यह चिंता निराधार तो नहीं है कि जो मदद आज दी जा रही है, जरूरी नहीं की वह आगे भी मिलेगी। क्या पता यह वंचित आप का सहारा और भरोसा पा कर नई शुरुआत करें और कल आप का मन बदल जाए और आप अचानक मदद बंद कर दें। इस बार इन का भरोसा केवल आप से ही नहीं मनुष्यता से भी हट जाए। वैश्वीकरण के केवल लाभ ही नहीं हुए हैं, इस की कई हानियाँ भी रही हैं। मसलन, वैश्विक उन्नति और प्रगति की दौड़ में एक बड़ा वर्ग जो वंचित समुदाय का है, वह अपनी वंचनाओ और जरूरतों के साथ पीछे छूटता जा रहा है जिस पर ध्यान देने के लिए किसी के पास वक्त नहीं है–"अधभूखे बालकों में /समाया है बुढ़ापा/पाकीजगी ने ओढ़ा है/दौलत का सरापा?/अपमान/अभावों में कई पूर्वज मरे/19 वीं के अंत में सब से अपढ़ हैं हम/नहीं जीविका के साधन/और

घर-ब-दर हैं हम/यह राज है पर्दे का/बाहर बताएं क्या!/इक्कीसवीं सदी में ऐसे ही जाएं क्या?।"[8]

इस पीछे छूट चुके समुदाय में ही एक बच्चे ने सारी बाधाओं को पार करते हुए अनगिनत जुल्मों को सहते हुए इतनी तेज दौड़ लगाई कि वह अच्छाई और बेहतर समाज का पर्याय बन जाता है। इस बाल मजदूर की आत्मकथा ऑक्सफोर्ड में पढ़ाई जा रही है। आज हवाई जहाज में बैठकर जब फ्रांस, अफ्रीका, कनाडा, हॉलैंड और ग्रेट ब्रिटेन आदि विदेशों की साहित्यिक यात्राएं करता है तो उसे याद आती है धूप में की गई मीलों भूखे पेट नंगे पाँव की यात्रा। "अब तक मेरी सब उम्मीदों पर पानी फिरता आया/थमा नहीं हूं पथ पर जबकि/कष्टों से घिरता आया।"[9] बेचैन बाल श्रमिक से प्रोफेसर बनने तक का सफर तय करते हुए ज्ञान की परंपरा से जुड़तें हैं और इस ज्ञान को अपने आप तक सीमित रखने की बजाए इसे दलितों की अविरल परम्परा से जोड़ते है।

कविता की शुरुआत बेचैन ने मौखिक रूप में आजीविका चलाने के लिए की। उम्र में अपने से कहीं बड़े प्रतिद्वंदियों के आगे यह नींबू बेचने वाला छोटा-सा बच्चा अपने कम बिकते हुए नींबुओं की संख्या बढ़ाता भी तो कैसे? सुन्दर कविता गाता यह बच्चा भला ग्राहक को क्योंकर नहीं लुभाता? "रस के भरे, रसीले नींबू, दस के दो, पंद्रह के दो। हंस के लो भाई, हंस के लो/"[10] ऐसे गा-गा कर बेचैन जी ने नींबू बेचे। "ताजे अंडे, रूपये के चार/आज नगद लो कल उधार/अंडे खा हों हुशियार/जो ना खाए हो बीमार।"[11] बाल मजदूर की व्यथा की संगिनी थी ये बाल कविताएं। कभी अपने लिए गाता तो कभी औरों को सुनाता। शिक्षा की धार पा कर ये कविताएं कालान्तर में अपने जैसे कई और बच्चों को बाल मजदूर बन पाने से रोकने का मुक्ति गीत बन गई। यह बाल मजदूर जो स्कूल के बस्ते में किताबों की जगह मरे जानवरों की खाल उतारने की रांपी रखने को मजबूर था, वह आज अपने अथक परिश्रम और जिजीविषा के बल पर राँपी की जगह कलम का इस्तेमाल भ्रष्ट व्यवस्था की खाल उतारने में कर रहा है। "वह बालक/मुर्दा लवारा उठाने गया/किसी ने नहीं रोका/बूट पालिश करने फुटपाथ पर बैठ गया/किसी ने एतराज नहीं किया/वह मासूम/होटल पर बर्तन धोने लगा/किसी ने उस के पढ़ने का इंतजाम नहीं किया/वह अनाथ/घर-घर भवनों-फ्लैटों में/फेंकता फिरा पत्र-पत्रिकाएं/किसी ने नहीं पूछा कि/बेटा तुम कभी अखबार पढ़ते भी हो?/कड़कती धूप में/कन्धे पर टोकरा रख कर/वह बेचता फिरा नींबू अंडे केला/और बचपन का सफर-तय करता रहा अकेला।"[12]

माँ और दादा कबीर की आजीवक परम्परा को अनजाने ही आगे बढ़ाते जा रहे थे और अब बेचैन भी उसी परम्परा के निर्वाहक बन गए। आजीविका निर्वहन की जद्दोजहद में बेचैन का बचपन पीछे छूटता जा रहा था। विद्या से हीन-दीन बनता जा रहा था। इस आशाहीन परिदृश्य में बेचैन अकेले नहीं थे, बल्कि उन्हीं के समान न जाने कितने और मासूम, शोषणकारी व्यवस्था से त्रस्त थे। उन की इस मूक व्यथा की आवाज बनी हैं ये कविताएं। देश-दुनिया ने इतनी तरक्की कर ली पर आज भी लाखों बच्चे बेघर हैं। अतः बेचैन जी की कविताएं केवल उन्हीं तक सीमित नहीं हैं। ये दलित समाज की प्रतिनिधि कविताएं हैं। "प्रतिभा, गुण, जन्मना नहीं/किसी धन्ना सेठ या किसी जाति विशेष की/बपौती तो बिल्कुल भी नहीं/पर कितने दलित कालिदास/कितने कबीर दास/कितने राकेश शर्मा/कितनी कल्पना चावला/परिवेश के आभाव में/वर्णभेद के दबाव में/जन्म लेने से पहले ही/व्यवस्था की भेट चढ़ जाते हैं/क्या हम कभी/जन्म भेद से होने वाली/देश की क्षति का/आकलन करते हैं/हिसाब लगाते हैं?।"[13] आप को क्यों बुरा लगता है जब कोई दलित भी पढ़ लिखकर किसी पद पर आने लायक बन जाता है—"स्साला रिजर्व का है/मैरिट वालों के/सिर पर बैठेगा।"[14]

पत्रकारिता के क्षेत्र को जोखिम और अन्याय का गढ़ माना जाता है जहाँ लड़कों तक को भेजने से पहले माता-पिता कई बार सोचते हैं। वहीं बेचैन ने इस साहस भरे कार्य की शुरुआत अपने घर-परिवार से की। पहले अपनी बेटी को पत्रकारिता के लिए देश के सब से अच्छे पत्रकारिता संस्थान में दाखिला दिलवाया। आज वह एक प्रतिष्ठित न्यूज चैनल की निडर एंकर है (जर्नलिस्ट ऑफ द ईयर 2022 से सम्मानित)। उसे साहसी और आत्मनिर्भर बनाया ताकि स्त्री शिक्षा और स्त्री अन्याय सम्बन्धी अवधारणाओं पर कोई सवाल उठाये तो वह उस का प्रत्यक्ष उदाहरण दे सकें। "अक्षर के जादू ने उस पर असर बड़ा बेजोड़ किया. ../निर्भरता को छोड़ेगी, जेहनी जड़ता को तोड़ेगी/समता मूल्य-जियेगी अब वो/एकतरफा क्यों ओढ़ेगी.../नाजुक क्यों/फौलाद बनेगी/दम-खम काम में लायेगी/ना दहेज को सहमत होगी, कौम की कारा तोड़ेगी/मंच पै चढ़कर बोलेगी/समय और शिक्षा ने उसके चिंतन का रुख मोड़ दिया/चुप्पा रहना छोड़/दिया, लड़की ने डरना छोड़ दिया।"[15]

समाज में सर्वाधिक शोषण स्त्री का होता है। स्त्री के मातृत्व का होता है। उदाहरण लड़के की चाह में बार-बार गर्भधारण द्वारा स्वास्थ की दुर्गति करना। पुरुष घर-बार को संभालने के नाम पर एक तो शोषण करता है उस पर से

संरक्षण देने का एहसान लादता है–"एक नारी दीन-हीन, बोली बालम प्रवीन/तन खारिज-मशीन, अंग-पुरजा भए क्षीन/बच्चे पैदा भये तीन/अब विराम दो पिया/ब्रह्मचारी हूं न होना, डाक्टर जी का कहना/बेटा-बेटी हो सलोना, कोई अंतर तो है ना।"[16] स्वतः शक्तिहीन पुरुष मातृत्व से शक्ति लेता है। बुद्धिजीवियों में विचारों के तो टकराव होते हैं बावजूद इसके कई सारे बुद्धिजीवियों बेचैन के संघर्ष को ले कर एकमत हैं। महाश्वेता देवी ने कहा बेचैन आर्य समाज से मार्क्सवाद, मार्क्सवाद से बहुजन विचारधारा तक का सफर तय करते हैं। डा. धर्मवीर ने मक्खलि गोसाल कहा है तो केदारनाथ सिंह ने इन की तुलना मेक्सिम गोर्की से की है। मानवीयता की वैश्विक दृष्टिकोण भरी इन कविताओं की अपनी संपूर्णता में मांग है, जरूरत है, जगह-जगह प्रसारित होने की, क्योंकि आधुनिक भारत को एक बार फिर जरूरत है अपनी विविधता में भी एक होने की...। भारत देश को जरूरत है एक अदद भारत होने की। "मजबूत/मुट्ठी बन रहें/फिर शान से/सब ही कहें/मेरा वतन/मेरा जहाँ/सब से हसीं/हिंदोस्ताँ।"[17]

## संदर्भ


1. चमार की चाय, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 171
2. वही पृ. 92
3. विचार प्रवाह, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002, आवृत्ति संस्करण, 2014, पृ. 101
4. नई फसल, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-1100 02, प्रथम संस्करण-2014, पृ. 69
5. भोर के अँधेरे में, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2018, पृ. 206
6. वही, पृ. 208-209
7. क्रोंच हूँ मैं, श्यौराज सिंह 'बेचैन', सहयोग प्रकाशन 41, सहयोग अपार्टमेंन्ट मयूर विहार, फेज-1 दिल्ली-110 091, प्रथम संस्करण, 1995, पृ. 30
8. नई फसल, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण-2014, पृ. 63
9. चमार की चाय, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 42
10. मेरा बचपन मेरे कंधों पर, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, द्वितीय संस्करण, 2013, पृ. 201
11. वही, पृ. 223
12. चमार की चाय, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृ. 116
13. भोर के अँधेरे में, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2018, पृ. 79
14. वही, पृ. 83
15. क्रोंच हूँ मैं, श्यौराज सिंह 'बेचैन', सहयोग प्रकाशन 41, सहयोग अपार्टमेंन्ट मयूर विहार 1, दिल्ली-110 091, प्रथम संस्करण, 1995, पृ. 48
16. नई फसल, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण-2014, पृ. 13
17. भोर के अँधेरे में, श्यौराज सिंह 'बेचैन', वाणी प्रकाशन 4695/21ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2018, पृ. 160



**रश्मि नरताम**
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110 007

# काव्य यात्रा का विकास और गोपालदास नीरज की जनवादी चेतना

*—ब्रजेश उपाध्याय*

गोपाल दास नीरज का प्रथम काव्य-संग्रह 1944 में 'सघर्ष' नाम से प्रकाशित हुआ और 1958 में यहीं 'संघर्ष' नामक कृति 'नदी किनारे' नाम से प्रकाशित हुई। अन्तर केवल इतना है कि 1944 में 'संघर्ष' नामक काव्य-संग्रह में जहाँ भूमिका डॉ. गुलाबराय ने लिखी है, वहीं 1958 में प्रकाशित 'नदी किनारे' नामक काव्य-संग्रह में आरह पंक्तियों का निवेदन 'नीरज' ने लिखा है। बाकी जो साठ कविताएं 'संघर्ष' में हैं, वे साठ कविताएं 'नदी किनारे' नामक काव्य-संग्रह में भी हैं। मतलब, विषयवस्तु की दृष्टि से 'संघर्ष' या 'नदी किनारे' में कोई अन्तर नहीं। 'संघर्ष' में संकलित साठ कविताएं बिना किसी परिवर्तन के उसी क्रम और रूप में 'नदी किनारे' में भी दे दी गयी हैं। साठ कविताओं के इस संग्रह में चार-पाँच कविताएं, पाँच से छः पंक्तियों की तथा बाकी कविताएं दस से पच्चीस पंक्तियों तक की हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भावानुभूति के अनुसार उन का आकार लघु या दीर्घ होता गया है और उन में सर्वत्र ही अनूठी भावान्विति के दर्शन होते हैं।[1]

'संघर्ष' या 'नदी किनारे' नामक प्रथम काव्य-संग्रह में नीरज ने केवल निराशा, अतृप्ति, वेदना और एकाकीपन आदि का ही चित्रण नहीं किया है, बल्कि आशा, विश्वास, दृढ़ संकल्प एवं जीवन में सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा भी देते दिखाई पड़ते हैं। जीवन-समर में हारे हुए निराश व हताश व्यक्ति को प्रेरित करते हुए वे कहते हैं :

*चल रे! चल रे! थके बटोही! थोड़ी दूर और मंजिल है।*
*माना पैर नहीं अब बढ़ते, और प्यास से प्राण तड़पते,*
*फूट पत्थरों से जल पड़ता पर जब होती प्यास प्रबल है।*[2]

इन सब के बीच प्रेम की मनःस्थिति का बड़ा ही मार्मिक व सूक्ष्म चित्रण देखने को मिलता है। प्रेम की महत्ता को अनेक उदाहरणों के माध्यम से दर्शाते हुए वे कहते हैं :

*कर ले जग मुझ से मन की, पर मैं अपनेपन में दीवाना,*
*चिंता करता नहीं दुखों की मैं जलने वाला परवाना,*

*अरे! इसी से सारपूर्ण-जीवन निस्सार किया करता हूं।*
*मैं क्यों प्यार किया करता हूं।*[3]

अतः विचारपूर्वक देखा जाए तो भावपक्ष के सदृश्य कला पक्ष की दृष्टि से भी 'संघर्ष' या 'नदी किनारे' में संकलित कविताएं सफल ही मानी जायेंगी। इस प्रथम काव्य-संग्रह में भावाभिव्यक्ति के स्तर पर निराशा में भी आशा का संचार और अंधकार में प्रकाश का बड़ा ही सजीव, सटीक व मार्मिक चित्रण देखने को मिलता है। कला-पक्ष की दृष्टि से भाषा, छन्द, तुकतान, लय, ध्वनि, बिम्ब और प्रतीक आदि का सहज व गतिमय रूप विद्यमान है। इस प्रथम काव्य संग्रह की भाषा गतिमय साहित्यिक भाषा के समीप है और भाव-व्यंजना की पूर्ण सामर्थ्य के साथ-साथ बिम्ब एवं प्रतीकों का भी बड़ा सटीक प्रयोग हुआ है। इस कथन की पुष्टि हेतु यह उदाहरण द्रष्टव्य हैः

*झंझा के झोंकों में पड़ कर,*
*अटक गयी थी नाव रेत पर,*
*जब आँसू की नदी बहा कर*
*नाविक ने निज नाव चलायी।*
*तब मेरी पीड़ा अकुलायी!*[4]

गोपाल दास नीरज के प्रथम कविता-संग्रह के दो वर्ष पश्चात् 1946 ई में 'अन्तर्ध्वनि' शीर्षक से द्वितीय कविता संग्रह का प्रकाशन हुआ। इसी कविता-संग्रह को 13 वर्ष पश्चात् 1959 ई. में 'लहर पुकारे' नाम से प्रकाशित किया गया। द्वितीय कविता संग्रह में 46 कविताओं का संकलन है जो नीरज के प्रथम कविता संग्रह 'संघर्ष' से आकार में विशद है। सिर्फ विशद ही नहीं, बल्कि इस में अनेक नवीनताओं के दर्शन भी होते हैं। इस संग्रह में कवि ने पीड़ा, उपेक्षा, असाहय स्थिति और रूदन आदि को पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। यह स्वीकार का भाव ही मानव का युग गान बनता है। अपनी दुर्बलताओं का स्वीकार भाव ही मानव को कवि बना देता है।

*जब उस को संसार रूलाता,*
*वह अपनों के समीप जाता,*
*पर जब वे भी ठुकरा देते*
*वह निजमन के सम्मुख आता',*
*पर उस की दुर्बलता पर*
*जब मन भी उस का मुस्काता है।*
*तब मानव कवि बन जाता है।*[5]

चूंकि, नीरज के काव्य का मुख्य विषय शुरू से ही प्रेम रहा है। अतः इस कविता-संग्रह में भी प्रेम से सम्बन्धित गीत अधिक है। 'दूर मत करना चरण से', 'अब तुम्हारे ही सहारे', 'मैं तुम्हारी, तुम हमारे', 'प्रेम-पथ' जैसी कविताओं का विषय प्रेम ही रहा है। प्रेम ही मनुष्य को जीवन में खड़े रहने तथा समाज के कलुष से विद्रोह करने की शक्ति भी प्रदान करता है। सामाजिक विसंगतियों ने कवि नीरज के अन्तरतम को क्षेभ और क्रांति से भर दिया है। वे पूंजीवादी वैभव सत्ता के प्रति घोर असन्तोष व्यक्त करते हैं :

*मानव तुम, सौगन्ध तुम्हें है*
*अपनी मानवता की,*
*ईंट हिला देना नर-भक्षक*
*इस वैभव-सत्ता की।*[6]

इसी तरह, प्रेम की विराट सत्ता के साथ उस की विराट महत्ता को सहज, सरल व सुदृढ़ भाव से स्वीकार करते हुए कहते हैं कि यदि एक बार मेरे भुज-बन्धन में बंध जाओ तो मैं मुक्ति, शक्ति, चिर अमरत्व और चिर देवत्व, इन सभी को न्यौछावर कर दूंगा।

*चिर अमरत्व निछावर होगा,*
*वास, वास के प्रति कम्पन पर,*
*चिर देवत्व निछावर होगा,*
*जीवन के दुर्बलतम क्षण पर,*
*पल-भर भी यदि एक बार तुम*
*बंध जाओ मम भुज-बंधन में।*[7]

वस्तुतः, इस कविता-संग्रह में कवि अपने ढंग से सोचने व लिखने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। 'मजदूर का स्वप्न', 'कवि और हिटलर', 'पथ-भ्रष्ट', 'हिम्मत मत हार', जैसी विचार प्रधान कविताओं में यह प्रयत्न विशेष रूप से स्पष्ट है। 'कवि और हिटलर' शीर्षक कविता में कवि ने नये मौलिक अंदाज में आत्मकेन्द्रित कलाकार को सामाजिक व राजनीतिक दायित्व की याद दिलायी है। कवि एक दिन थके हुए तन-मन से घर आता है। प्रिया से बिछुड़ने का दंश उसे सोने नहीं देता। विवश हो कर वह मदिरालय जा कर पीड़ा से मुक्ति पाने का प्रयास करता है। नशे की हालत में ही उसे हिटलर का जलता हुआ पुतला दिखाई पड़ता है। कवि हिटलर से पूछता है–'यूरोप को बर्बाद किया अब क्या इस की बारी है?'[11]

यहाँ ममी की कमाई के सिवा देश की दौलत के नाम पर बचा ही क्या है? इस व्यंग्य के उत्तर में कवि को हिटलर जबर्दस्त डाँट पिलाता है। वह कहता है–'ओ गुलाम कवि! तू मृत है जो अपना मुख भी नहीं खोल सकता। इस

गुलामी के जीवन में तुझे वस्तुतः अपने हृदय की व्यथा-कथा कहने का भी अधिकार नहीं है। जीना तो दूर मरने का भी अधिकार नहीं है। ऐसा व्यक्ति जूठन पर जीने वाला श्वान अथवा घट-घटों का पानी पीने वाले प्रेत तुल्य है।' कायर कवि यह सुनते ही भाग खड़ा होता है पर हिटलर का अन्तिम वाक्य उस के कानों में गूंजता रहा जाता है– 'देश-राष्ट्र के हित में हंस कर जो कूट हलाहल पीता, वीर वही है और वही मर कर युग-युग तक जीता।'[9]

इसी प्रकार, इस कविता-संग्रह में प्रयुक्त सशक्त शब्दावली, सजीव विश्लेषण, भावाभिव्यंजक प्रतीक एवं आकर्षक बिम्ब आदि कवि की कला दक्षता का स्पष्ट परिचय देते हैं।

जन्म से तू उड़ रहा निस्सीम इस नीले गगन पर,
किन्तु फिर भी छाँट मंजिल की नहीं पड़ती नयन पर, और
जीवन-लक्ष्य पर पहुंचे बिना जो मिट गया तू, जग हंसेगा
खूब तेरे इस करूण असफल मरण पर, ओ मनुज! मत
विहग बन आकाश बन कर जी, अटल विश्वास बनकर
जी।[10]

जीवन की भाग-दौड़ भरी जिन्दगी में जीवन की व्यर्थता का कितना सटीक बिम्ब कवि ने खींचा है। नीरज के द्वितीय कविता संग्रह 'अन्तर्ध्वनि' के पाँच वर्ष पश्चात् 1951 ई. में तीसरा कविता-संग्रह 'विभावरी' का प्रकाशन हुआ। अपनी प्रारम्भिक दोनों काव्य कृतियों की तरह इस तीसरे कविता-संग्रह का नया संस्करण प्रकाशित करवाते समय इस का नाम परिवर्तित कर 'बादर बरस गयो' रख दिया। इस का प्रकाशन 1958 ई. में किया गया। 'बादर बरस गयो' नाम से प्रकाशित इस संस्करण में भूमिका नहीं है। 'विभावरी' या 'बादर बरस गयो' कविता-संग्रह में कुल 52 रचनाएं हैं। इस कविता-संग्रह को कवि नीरज का प्रौढ़ संकलन माना गया है। इस में विषय की विविधता दृष्टिगोचर होती है। इस संग्रह की कुछ रचनाएं संयोग श्रृंगार की हैं, कुछ आत्म परिचय की तथा कुछ रचनाएं वियोग श्रृंगार से सम्बन्धित हैं। संयोग श्रृंगार का बड़ा ही अद्भुत अनोखा व मनोहारी चित्रण निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

*हम अधूरे, अधूरा हमारा सृजन,*
*पूर्ण तो एक बस प्रेम ही है यहाँ,*
*काँच से ही न नजरें मिलाती रहो,*
*बिम्ब को मूक प्रतिबिम्ब छल जायेगा।*
*देखती ही न दर्पण रहो प्राण।*
*तुम प्यार का यह मुहूरत निकल जायेगा।*[11]

नीरज के इस कविता-संग्रह की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे प्रेम, सौन्दर्य और मृत्यु को जीवन-शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।

*जीवन क्या माटी के तन में केवल गति भर देना,*
*और मृत्यु क्या–उस गति को ही क्षण-भर यति कर देना*

उपर्युक्त पंक्तियों में जीवन को गति मानते हुए कहते हैं कि जीवन तभी है जब तक इस मिट्टी के तन में गति है और मृत्यु इस गति में क्षण-भर का विश्राम है। अर्थात्, जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म एक प्रक्रिया है जो निरन्तर गतिमान है। इस के अतिरिक्त इस में वियोग-श्रृंगार, प्रेम की महत्ता, कर्त्तव्य के प्रति दृढ़ संकल्प, सांसारिक विसंगतियों एवं चुनौतियों का डट कर सामना करने की प्रवृत्ति, नारी विषयक दृष्टिकोण, अध्यापकत्व, प्रकृति की मनोरम दशा आदि विषयों का चित्रण किया है।

'दर्द दिया है' शीर्षक से छपे उन के चौथे कविता-संग्रह को आलोचकों ने सब से समृद्ध और प्रौढ़ संकलन स्वीकार किया है। इस कविता-संग्रह में विषय वैविध्य के साथ-साथ काव्य संबंधी दृष्टिकोण, प्रेम की नयी एवं मौलिक व्याख्या, जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण, वाद निरपेक्षता, साहित्य की महत्ता, परोपकारिता आदि सभी विषयों का समावेश है। वस्तुतः नीरज के इस कविता-संग्रह में प्रेम, समर्पण, त्याग, बलिदान, कर्म की महत्ता, मेहनतकश वर्ग के प्रति सर्वस्व अर्पण, सच्चाई, ईमानदारी, विश्वबन्धुत्व की भावना, रूढ़ियों एवं पुरातन परम्पराओं पर प्रहार, मानवता, आशा और विश्वास आदि विषयों का समावेश हुआ है।

*बिक रही द्रौपदी नग्न खड़ी चौराहे पर,*
*पढ़ रहा किन्तु साहित्य सितारों की भाषा*[12]

नीरज ने अपने कविता-संग्रह में प्रेम को एन्द्रिकता से ऊपर उठाया है। उन के यहाँ प्रेम व्यष्टि से समष्टि की यात्रा करता है। व्यक्तिगत दुख-दर्द को महत्व न दे कर कवि अब मानव मात्र के दुख दर्द के लिए चिंतित जान पड़ता है। इस प्रकार नीरज का व्यक्तिगत प्रेम पार्थिव न रह कर असीम व अनन्त के प्रति सहज समर्पण बन जाता है। वे चार-विचार शीर्षक कविता में प्रेम की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं :

*जो पुण्य करता है वह देवता बन जाता है,*
*जो पाप करता है व पशु बन जाता है,*
*किन्तु जो प्रेम करता है वह आदमी बन जाता है।*[13]

सामाजिक दायित्व के प्रति आरम्भ से ही सजग नीरज के इस कविता-संग्रह में प्रतिबद्धता की भावना स्पष्ट रूप

से झलकती है। देश के भीतर फैली हुई गरीबी, भूखमरी, बेकारी, स्त्रियों का शोषण, अन्याय और अत्याचार पर कवि का ध्यान बार-बार गया है। इस कविता-संग्रह में वे अभिव्यक्त सामाजिक चेतना को किसी वाद विशेष के अन्तर्गत नहीं रखते हैं। इसलिए एक तरफ उन की कविताओं में जहाँ उत्कट देश प्रेम की भावना झलकती है तो कहीं विश्व प्रेम का परिचय भी मिलता है। अर्न्तराष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण भी पर्याप्त मात्र में मिलता है। इस संग्रह के श्रेष्ठ गीत वे हैं, जहाँ कवि ने प्रेम का अत्यन्त गहराई से अनुभव किया है। 'क्या यही है प्रेम का प्रतिकार?' शीर्षक कविता में कवि ने प्रेमी की मनः स्थिति का बड़ा ही मार्मिक व हृदयस्पर्शी चित्रण किया है :

*सुख तुम्हें मिलता निरख यदि अश्रु मेरे प्यार।*
*मैं बसा लूंगा नयन में कोटि पारावार,*
*और तुम को भी शपथ है मुस्कराना तुम*
*बंद हो जब तक न मेरे आँसुओं की धार।*
*यदि यही है प्रेम का प्रतिकार।*

*इस कविता-संग्रह का शिल्प विधान बहुत समृद्ध है।* इस कविता-संग्रह में संस्कृतनिष्ठ तत्सम पदावली के साथ-साथ देशज शब्दों का बड़ा ही सटीक प्रयोग किया गया है। कारण, इस कविता-संग्रह में नीरज के दार्शनिक रूप का पहली बार स्पष्ट दर्शन होता है। जीवन की गहनतम समस्याओं के निरूपण की ओर भी कवि का ध्यान गया है। नीरज के इस चौथे कविता-संग्रह का महत्व इस दृष्टि से भी है कि 'दृष्टिकोण' नामक इस की भूमिका नौ पृष्ठों की है जिस में कवि ने काव्य संबंधी दृष्टिकोण के साथ-साथ सौन्दर्य, प्रेम और मृत्यु के सन्दर्भ में अपना मौलिक दृष्टिकोण रखा है। काव्य संबंधी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए नीरज कहते हैं–'गद्य जहाँ असमर्थ है, वहाँ कविता जन्म लेती है और जहाँ कविता भी लाचार है, वहाँ गीत आता है। लिखे जाने का अर्थ गद्य है और गाये जाने का अर्थ गीत है। फिर लिखे जाने से गाये जाने की व्याख्या कैसे की जाए?'

इसी तरह, प्रेम, सौन्दर्य और मृत्यु के सन्दर्भ में उन का दृष्टिकोण द्रष्टव्य है–'जीवन के सत्ताइस पृष्ठ पढ़ने के बाद मेरी अनुभूति केवल तीन सत्य प्राप्त कर सकी है–सौन्दर्य, प्रेम और मृत्यु। इस का अर्थ मेरी कविता में क्रमशः चिति (सौन्दर्य), गति (प्रेम) और यति (मृत्यु) है। आगे भी कहा है–'इन तीन सत्यों के अतिरिक्त एक चौथा सत्य भी है जिस का नाम है रोटी (पेट की भूख), हृदय की भूख-प्यास जिस प्रकार जीवन-स्थिति के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार पेट की भूख भी शरीर स्थिति के लिए अनिवार्य है।

सौन्दर्य को वे चिति शक्ति मानते हैं। सृष्टि के सन्तुलन, क्रम, आकर्षण और स्थिति के कारण को सौन्दर्य कहा है। प्रेम को जीवन को गति देने वाली शक्ति मानते हैं। थकान होने पर क्षण भर के लिए विश्राम चाहिए। यही मृत्यु है। प्रेम की महत्ता को दर्शाते हुए एक स्थल पर नीरज कहते हैं :

*प्यार है कि सभ्यता सजी खड़ी,*
*प्यार है कि वासना बंधी पड़ी,*
*प्यार है कि आँख में शरम जड़ी,*
*प्यार बिन मनुष्य दुश्चरित्र है।*
*प्यार तो सदैव ही पवित्र है।*

## संदर्भ


1. नीरज रचनावली-1, आत्माराम एण्ड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 49
2. वही, पृ. 52
3. वही, पृ. 55
4. नीरज का काव्य एक विश्लेषण, दुर्गाशंकर मिश्र, हिन्दी साहित्य भंडार, संस्करण, 1981, पृ. 34
5. वही, पृ. 146
6. वही, पृ. 150
7. वही, पृ. 180
8. वही, पृ.181
9. वही, पृ. 174
10. वही, पृ. 219
11. वही, पृ. 219
12. वही, पृ. 104
13. वही, पृ. 86



**ब्रजेश उपाध्याय**
शोधार्थी (पीएच.डी., हिन्दी), हिन्दी विभाग
गुरु काशी विश्वविद्यालय, तलवंडी साबो, बठिंडा,
पंजाब-151302
मो. 7780851547

# *'त्यागपत्र' उपन्यास में सामाजिक शोषण और नारी*

*–प्रो. चन्द्रशेखर*

नारी जागरण की अवधारणा लगभग 19वीं शती के नारी आन्दोलन की देन है। इस के पहले समाज में नारी शोषण को सामाजिक मान्यता प्राप्त थी। अतः नारी जागरण जैसी किसी विचारधारा का होना असम्भव था। यद्यपि, कभी-कभी प्रगतिशील विचारधारा के व्यक्तियों ने नारी अत्याचार के खिलाफ अवश्य आवाज उठाई, परन्तु वह किसी विचारधारा के स्तर पर प्रचारित नहीं हो सकी। नारी के शोषण में पूरी एक बनी-बनाई व्यवस्था का योगदान है जिस के तहत हर क्षेत्र में एक समुचित ढंग से नारी शोषण को वैधता प्रदान की जाती है। शोषण की यह प्रक्रिया केवल वर्तमान युग की ही देन नहीं है, बल्कि प्राचीन काल से ही एक परम्परा रही है। आज भी सारी सत्ता पुरुषों के हाथों में हैं। यद्यपि स्त्री को नाममात्र के कुछ अधिकार भी दिये गए हैं, तथापि वे भी व्यावहारिक कम सैद्धांतिक और कागजी ही अधिक हैं। कहने को तो आज स्त्री और पुरुष को समान अधिकार प्राप्त हैं, परन्तु इन दोनों में बहुत बड़ा भेद कायम है। परिवार और समाज जहाँ पुरुष को स्वच्छन्द बन्धनों के तहत आचरण करने को विवश किया जाता है। उसे अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास का कोई अधिकार नहीं है। उस की पहचान आज भी समाज में उस के पति के नाम से मिसेज मिश्रा, मिसेज सिंह और मिसेज अग्रवाल आदि विशेषणों के साथ होती है।

इसी तरह, जिस पुत्र को पैदा करने और लालन-पालन में उस की सर्वाधिक भूमिका रहती है, उस का भी नाम पिता के वंश से जुड़ जाता है। साथ ही पुत्र के बड़े हो जाने के बाद उस पर से उस का अधिकार समाप्त हो जाता है। यहाँ तक कि पिता की यदि मृत्यु हो जाती है तो कानून उसकी माँ को उस का संरक्षक मानने को तैयार नहीं होता है। अतः उस के संरक्षक के रूप में किसी चाचा या दादा आदि का नाम लिखाना आवश्यक होता है। यद्यपि, अभी हाल में सुप्रीम कोर्ट ने प्रमाण-पत्र पर पिता के नाम के साथ माँ का नाम भी लिखाने की इजाजत दी है परन्तु व्यवहार में यह कितना कारगर होगा, आने वाला समय ही बतायेगा।

न्यायालय भी नारी-शोषण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, क्योंकि सारे कानून पुरुषों द्वारा ही बनाए गए हैं। अतः पुरुष पक्ष में अधिकारों का आवंटन स्वाभाविक है। अभी तक कानून भी वैवाहिक बन्धन समाप्त होने पर सन्तान पाने का अधिकार प्रायः पिता को ही देता है और मां को उस के मातृत्व से वंचित कर दिया जाता है। उत्तराधिकार के नियम में

पहले की अपेक्षा कुछ ढील अवश्य दी गई है, परन्तु अभी भी पति की मृत्यु के पश्चात् पति की सम्पत्ति पर पत्नी की अपेक्षा पुत्र को ही अधिक अधिकार प्राप्त हैं। इसी प्रकार तलाक के परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम महिलाओं को मुआवजे या गुजारेदारी से पूर्णतः वंचित रखा गया है। यदि हिन्दू महिलाओं के लिए इस की कुछ व्यवस्था की भी गई है, तो वह अपर्याप्त होने के कारण हास्यास्पद बन गयी है। साथ ही कानूनी प्रक्रिया इतनी जटिल होती है कि आर्थिक रूप से कमजोर मायके वाली स्त्रियाँ इस का दावा ही नहीं करतीं। यदि वे करती भी हैं तो सम्पन्न वर्ग वाले इतनी कम रकम मुहैय्या करवाते हैं जो भिक्षा देने के बराबर होता है।

समाज द्वारा नारी-शोषण का यह क्षेत्र केवल किसी विशेष देश से ही सम्बन्धित नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण विश्व में नारी का शोषण लगभग एक-सा ही है। कुछ देश के निवासी स्वयं विदेशियों से शोषित रहे हैं, परन्तु ऐसा नहीं कि उन्होंने नारी का शोषण नहीं किया। नारी शोषण की चर्चा करते हुए राकेश शर्मा 'निशीथ' का कहना है, ''पुरुषों के मुकाबले लड़कियों में भेदभाव करने की प्रवृत्ति प्रायः सभी देशों में बनी हुई है। स्त्रियों पर अनेक रूपों में अत्याचार हो रहा है, जिन में से कुछ निम्न हैं—परिवार में शारीरिक, लैंगिक और मनोवैज्ञानिक हिंसा, दहजे से जुड़ी हिंसा, कामकाजी महिलाओं के साथ दफ्तरों, सड़कों, बसों आदि में छेड़खानी, दंगों और युद्ध की स्थितियों में स्त्रियों पर अत्याचार और बलात्कार, स्त्री कैदियों के साथ दुर्व्यवहार, शिक्षा और स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा, बलात् वेश्याकरण और जाने-अनजाने अन्य अनेक रूप। यहाँ तक कि कुछ अत्याचारों को तो धार्मिक और सामाजिक मान्यताएं भी मिली हुई हैं।''[1]

स्त्री-पुरुष के आपसी रिश्ते के बारे में इतना बड़ा फर्क यह जो आज देखने को मिलता है, वह समाज द्वारा ही निर्धारित है। समाज और परिवार में स्त्री के दोयम दर्जे के अधिकार प्राप्त हैं। अगर कोई नारी स्वतन्त्र रूप से किसी व्यक्ति से प्रेम करती है और उसे पाने की क्षमता भी रखती है तो भी उसे ऐसा करने की इजाजत समाज नहीं देता है। यहाँ तक कि विवाह जैसे स्थायी बन्धन में भी नारी स्वतन्त्र रूप से हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। आज भी प्रायः नारी का विवाह पितृसत्तात्मक समाज में अभिभावक द्वारा ही निश्चित होता है। इस में नारी की स्वीकृति और अस्वीकृति का कोई प्रश्न ही नहीं है। इस क्षेत्र में धीरे-धीरे नारी को कुछ स्वतन्त्रता अवश्य मिल रही है परन्तु यह धारणा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ आज भी वर्तमान समाज में बरकरार है। समाज द्वारा नारी के लिए निर्धारित इन सभी बन्धनों का शिकार 'त्यागपत्र' उपन्यास की नायिका मृणाल भी होती है और उसे भी पुरुष द्वारा निर्धारित सारे कुचक्रों से गुजरना पड़ा है।

'त्यागपत्र' उपन्यास में मृणाल के शोषण का पहला रूप उस के प्रेम क्षेत्र से प्रारंभ होता है जिस में समाज की कम परन्तु उस के अपने भैया और भाभी की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि, उपन्यासकार ने मृणाल के प्रेम की असफलता की सारी जिम्मेदारी उस के भैया और भाभी पर डाल दी परन्तु ध्यान से देखने पर इस असफलता में मृणाल की तथाकथित आदर्शवादी मानसिकता की भूमिका कम नहीं है। मृणाल ने जो साहस विवाह के बाद दिखाया, उस का यदि आधा भाग भी विवाह के पूर्व दिखाती तो उस का प्रेम निष्फल न जाता। मृणाल ने अपनी प्रगतिशीलता की ऊर्जा उस समय लगाई जबकि वक्त निकल गया था और कुछ पाने की बजाए अधिक खोने की संभावना थी और यही हुआ मृणाल के साथ भी। यह परिवार के शोषण से तो व्यक्तिगत प्रयासों से बच गयी परन्तु सामाजिक शोषण से खुद को बचाना उस के लिए आसान नहीं था। वह एक पति को तो ठोकर मार कर चली आयी थी या यों कहें कि मजबूरीवश विवाह-विच्छेद कर लिया, परन्तु उसी जैसे दूसरे कुचक्र में आ कर वह फंस गयी।

कोयले वाले ने मृणाल के सौन्दर्य का भरपूर उपभोग किया परन्तु मृणाल का सौन्दर्य उस की पुरुष लोभी प्रवृत्ति को ज्यादा दिन तक तृप्त न कर सका। कोयले वाले द्वारा गर्भावस्था में मृणाल का साथ छोड़ देना पुरुषवादी शोषण का एक और अध्याय खोलता है जिस में पुरुष नारी को उपभोग की वस्तु से अधिक कुछ मानने को तैयार नहीं दीखता। वह नारी के सौन्दर्य पर मर सकता है और सब कुछ लुटा सकता है परन्तु नारी के लिए उस के हृदय में जरा-सा भी स्थान नहीं है। सौन्दर्य का आकर्षण समाप्त होते ही नारी उस के लिए बेकार की वस्तु है। यही मृणाल के भी साथ होता है। यद्यपि, मृणाल इस बात को पहले से ही जानती है, फिर भी उस के साथ दाम्पत्य जीवन स्वीकार करती है। नारी की अपनी कुछ मजबूरियाँ अवश्य हैं जिस के चलते वह बार-बार पुरुष द्वारा ठगी जाने के बाद भी आसानी से पुरुष की चाल में फंस जाती है।

नारी शोषण के लिए केवल पुरुष ही उत्तरदायी नहीं है, बल्कि नारी के शोषण में नारी भी विशेष भूमिका निभाती है। नारी की निरीह स्थिति केवल उस के शोषित रूप में ही स्पष्ट होती है, परन्तु जब वह शोषक की भूमिका में होती है तो पुरुष से कहीं अधिक क्रूर और उद्दण्ड रूप ले लेती है। इस का सटीक उदाहरण 'त्यागपत्र' उपन्यास में मृणाल की

भाभी की भूमिका है। उसे मृणाल का स्वच्छन्द चरित्र कदापि पसंद नहीं। मृणाल का प्रेम व्यापार मृणाल के भैया के लिए तो चिंता का विषय है, पर मृणाल की भाभी के लिए सामाजिक उच्छृंखलता और चुनौती का विषय है। अतः, वह निर्दयतापूर्वक मृणाल की पिटाई कर के कमरे में बंद कर देती है। मृणाल की इस दयनीय दशा का वर्णन प्रमोद इन शब्दों में करता है, ''उन की साड़ी इधर-उधर हो गई है और बदन का कपड़ा बेहद मार से झीना हो गया है। जगह-जगह नील उभर आए हैं, कहीं लहू भी झलक आया है। बुआ गुमसुम पड़ी है।''[2]

इतना ही नहीं, इस छोटी सी बात के लिए मृणाल की इतनी बड़ी सजा का कोई औचित्य नहीं दिखाई पड़ता है। उस की पढ़ाई बंद करवा दी जाती है। उस का घर से बाहर निकलना भी बंद कर दिया जाता है, क्योंकि उस की भाभी मृणाल को आदर्श गृहिणी के रूप में ढालना चाहती है जो मृणाल को मंजूर नहीं है। मृणाल के इस प्रकार के शोषण के पीछे कुछ तो उन की भाभी की हठधर्मिता एवं कड़ा रवैया है और कुछ सामाजिक बन्धनों का दबाव है। इस के चलते मृणाल की सारी स्वतन्त्रताओं और उस के प्रेम का गलाघोंट दिया जाता है। उस का विवाह एक अधिक उम्र के व्यक्ति से कर दिया जाता है जिसे वह मन मार कर स्वीकार तो कर लेती है, परन्तु अधिक शोषण को बर्दाश्त करना मृणाल की क्षमता के बाहर की बात थी। अतः उस ने पति का घर छोड़ कर अपना अलग रास्ता तय किया।

हिन्दू समाज में विवाह एक स्थायी बन्धन माना जाता है, परन्तु इस स्थायी बन्धन में भी नारी जबरन सहभागी बनायी जाती है। विवाह उस की इच्छा तृप्ति का नहीं बल्कि बन्धन का कारण बनता है जिसे तोड़ने की हिम्मत उस को नहीं है। पुरुष को पत्नी के चुनाव का अधिकार समाज देता है, परन्तु वहीं स्त्री को पति के चयन से वंचित रखा जाता है। इन्हीं परिस्थितियों से पीड़ित 'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल है। वह अपने प्रेमी से विवाह नहीं कर पाती बल्कि सामाजिक विडम्बनाओं के चलते अनमेल विवाह की शिकार हो जाती है। जैसा कि मृणाल के पति के बारे में प्रमोद का कथन है, ''ब्याह के वक्त मैंने अपने फूफा को देखा था। बड़ी-बड़ी मूंछें थीं और उम्र ज्यादा मालूम होती थी। डील-डौल में खासे थे। मुझे यह पीछे मालूम हुआ कि उनका यह दूसरा विवाह था। हमारी बुआ फूल सी थी।''[3]

अनमेल और विधुर के साथ जबरन ब्याह देने के बाद भी मृणाल उस का विरोध नहीं कर पाती है, बल्कि उसे अपने भाग्य की विडम्बना मान कर स्वीकार करती है। परन्तु इतना होने पर भी पुरुषवादी समाज उसे जीने नहीं देता। अन्ततः मृणाल के पति की मानसिक संकीर्णता के कारण उसे पति का घर छोड़ कर चला जाना पड़ता है।

विवाह के बाद वहाँ पुरुष का अपना घर बसता है, वहाँ माँ-बाप और परिवार की सारी सम्पत्ति पर उस का अधिकार हो जाता है, वहीं स्त्री को उस से बराबर वंचित होते जाना पड़ता है। विवाह के बाद उस का परिवार ही उसे बाहरी समझने लगता है। उस के स्वयं के परिवार से उस का अधिकार समाप्त हो जाता है। यदि ससुराल में उसे कुछ अधिकार मिले भी तो उस पर पति का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। वह कोई कार्य पति की अनुमति के बिना नहीं कर सकती। ऐसे ही पराएपन का अनुभव करते हुए मृणाल भी कहती है, ''प्रमोद, सच्ची-सच्ची कहूं तो मैं ही पराई हो गई हूं। तुम सब लोगों के लिए मैं पराई हूं। तेरी माँ ने मुझे धक्का दे कर पराया बना दिया है। पर मुझे जहाँ भेज दिया है, प्रमोद, मेरा मन वहाँ का नहीं है।''[4]

नारी शोषण को यह समाज किस रूप से वैधता प्रदान करता है, इस का अच्छा उदाहरण मृणाल के भैया और भाभी हैं। मृणाल के भैया, भाभी ने एक तो उस का विवाह उस की इच्छा के विरुद्ध अधेड़ व्यक्ति से कर दिया, दूसरे वे उस की परेशानी सुनने के आदी नहीं दीखते। यदि मृणाल पति गृह जाने का विरोध भी करती है तो वे उसे पुनः उसी शोषण में पिसने के लिए मजबूर करते हैं, जैसा कि मृणाल के भैया का कथन है, ''वह आदमी भले हैं। इस से बात बन भी गई। नहीं तो बेटा ऐसा किया करते हैं? थोड़ी-बहुत रगड़-झगड़ होती ही है। पर पति के घर के अलावा स्त्री को और क्या आसरा है?''[5]

यह झूठ नहीं है कि मृणाल प्रारंभ में पति धर्म का निर्वाह करना चाहती है, परन्तु अन्याय की अति उस को विद्रोह करने के लिए बाध्य करती है जिस से उस ने वैवाहिक बन्धन को नकार कर स्वतन्त्र मार्ग का चुनाव किया। नारी शोषण का यह मीठा जहर आज भी नारी को बराबर दिया जा रहा है जिस से विवाह और परिवार जैसी नारी-शोषण की संस्थाओं का अस्तित्व खतरे में न पड़ सके और पुरुष उस का अपनी आवश्यकता के अनुसार उपभोग कर सके।

त्यागपत्र उपन्यास में नायिका मृणाल का पति द्वारा शोषण का रूप भी खुल कर सामने आता है जो आज हमारे मध्यवर्गीय परिवार के दाम्पत्य जीवन की प्रमुख विशेषता है। मृणाल का पति परंपरागत रूप में पला-बढ़ा व्यक्ति है। वह अपनी पत्नी को आदर्श गृहिणी के रूप में देखना चाहता है। उस का कहना है, ''और दुनिया का भी लिहाज

रखना चाहिए। आप जानिए, बहू-बेटियों की चलन की रीति-नीति हुआ करती है। अपने तो वही पुराने अकीदे हैं। अपना कुल-शील चला आता है, वह न निभा तो फिर क्या रह गया।''[6]

यद्यपि, ये विचार बड़े ही आदर्शवादी लगते हैं परन्तु यही वह हथियार है जिस से पुरुषवादी समाज चिरकाल से नारी का शोषण करता चला आया है। इस के पीछे पुरुष की कुटिल मंशा साफ जाहिर हो जाती है। वह अपने लिए किसी भी मर्यादा को स्वीकार नहीं करता है। ऐसा ही चरित्र मृणाल के पति का है। वह मृणाल को बेवजह मारता है और मृणाल के द्वारा ईमानदारी से अपने पूर्व प्रेम सम्बन्धों का पर्दाफाश कर दिए जाने पर उस की रुढ़िवादिता और संकीर्णता जवाब दे जाती है। अतः, वह मृणाल को घर से निकाल देता है। यह हमारे समाज की विडंबना नहीं तो और क्या है कि एक पुरुष द्वारा विवाह पूर्व प्रेम समाज के लिए सामान्य सी बात है, परन्तु एक स्त्री के लिए यही स्थिति विडंबना और कलंक का रूप ले लेती है।

आज भी हमारे समाज में प्रायः अनेक पुरुषों को अपनी पत्नी के सामने बड़े गर्व के साथ अपनी पूर्व प्रेमिका का नाम लेते हुए सुना जा सकता है, परन्तु कोई भी पत्नी शायद ही कभी अपने पूर्व प्रेमी का नाम अपने पति को बताए। ऐसा करना उस के अस्तित्व के लिए ही खतरा बन सकता है। अतः वह चुपचाप दबे मन से पति के पूर्व प्रेम-सम्बन्धों को सुन कर केवल आहें भर सकती है। उस से ज्यादा कुछ नहीं कर सकती। इसी परंपरा को मृणाल ने तोड़ा जिस का परिणाम उसे परित्यक्ता के रूप में भुगतना पड़ा।

इस प्रकार नारी का शोषण पुरुष द्वारा कदम-कदम पर किया जाता है। वह उसे बार-बार बराबरी का दर्जा देने के बहाने भ्रमित करता रहता है और बार-बार अवसर मिलते ही नारी का भरपूर उपभोग कर के बेकार की वस्तु मान कर फेंक देता है। यही हमारे समाज की विडम्बना है जिसे जैनेन्द्र ने त्यागपत्र उपन्यास में मृणाल के माध्यम से व्यक्त किया है।

## संदर्भ


1. राकेश शर्मा 'निशीथ' 'विश्व में स्त्रियों की दयनीय दशा व दिशा' (लेख) 'हम दलित' अगस्त 1996, पृ. 34
2. 'त्यागपत्र' जैनेन्द्र कुमार, पूर्वादय प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1992, पृ. 15
3. वही, पृ. 18
4. वही, पृ. 19
5. वही, पृ. 28
6. वही, पृ. 35



**प्रो. चन्द्रशेखर**
महाराजा अग्रसेन कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

# सांस्कृतिक मूल्यबोध और भक्ति आंदोलन

*—डा. कुमार भास्कर*

जार्ज ग्रियर्सन ने भक्ति आंदोलन के महत्व को प्रतिपादित करने के लिए उस युग को स्वर्ण युग की संज्ञा दी थी। किसी कालखंड का नाम उस कालखंड के महत्व को दरशाता है। आज भी स्वर्ण युग शब्द की गरिमा उसी तरह बनी हुई है। भारतीय संस्कृति को देखने का नजरिया अलग-अलग है। भारत के संदर्भ में संस्कृति को अक्सर शास्त्रीय और वैदिक नजरिए से देखने की कोशिश की जाती है जो सही नहीं है। 15वीं सदी का भक्ति आंदोलन, शास्त्र की जगह लोक की अवधारणा से प्रेरित था। भक्ति आंदोलन साधारण लोगों के बीच से आए सचेत रचनाकारों की भूमिका साहित्य में आम आदमी को स्थापित करने की है। भक्ति आंदोलन समतामूलक और समन्वयात्मक संस्कृति का प्रतीक है। जब हम भारतीय संस्कृति के मूल्यों को समझने की कोशिश करते हैं, जहाँ सांस्कृतिक मूल्यों के निर्माण की प्रक्रिया काफी लंबी है। साधारण व्यक्ति के लिए किसी लंबी प्रक्रिया की तुलना में संक्षिप्त प्रक्रिया से समझ पाना ज्यादा सरल होता है। भक्ति आंदोलन, इतिहास में उस संक्षिप्त दौर की तरह है जो हमारी संस्कृति की मूल्य चेतना को स्थापित करता है। मूल्य है क्या? साधारण अर्थों में मूल्य किसी वस्तु का मान होता है जिस के आधार पर किसी वस्तु के भौतिक महत्व को देखा जाता है। कुछ इसी प्रकार से जीवन के संदर्भ में मूल्य किसी कीमत के संदर्भ में ना हो कर, जीवन के क्रियाकलापों में जिन व्यवहारों से हम-आप जीते हैं, में देखा जाता है। इसलिए जब जीवन मूल्य की बात की जाती है तो उस का मतलब वस्तु आदि नहीं होगा। मूल्यों को ले कर लोगों की अपनी-अपनी धारणा होती है। लेकिन समाज के मूल्य उस की सामूहिकता में देखे जायेंगे। उस सामूहिकता में भी कई छोटी-छोटी विभिन्न सामूहिकताएं होंगी। भक्ति आंदोलन की सामूहिकतावादी मूल्य चेतना परंपरागत भक्ति पद्धति के इतर है। भक्ति आंदोलन की मूल्य चेतना में एक सामान्य स्वर प्रत्येक धाराओं के रचनाकारों में, समान रूप से देखी जा सकती है। चाहे वह कबीर, जायसी, सूरदास और तुलसीदास क्यों न हों। निर्गुण-सगुण, राम-कृष्ण इन सभी धाराओं की अभिव्यक्ति का स्वर अलग-अलग तो है, किंतु मनुष्यता के लिए उस की वैचारिकी और व्यवहार में समानता है। भक्तिकालीन आंदोलन की मूल्य चेतना में, स्वचेतना जागृत रहने की अवस्था है। तात्पर्य है कि भक्ति की अवस्था चेतना पूर्ण है। इसी वजह से जब हम भक्तिभावना को सावधानीपूर्वक, बुद्धि की सजग अवस्था को धारण करते हुए समझेंगे, तो इस स्थिति में मूल्य और चेतना के सामंजस्य से भक्ति की भावना संकुचित न हो

कर विस्तृत होगी। इसलिए भी भक्तिकाल की भक्ति, मूल्य-चेतना के साथ है जिस का कोई एजेंडा नहीं है, बल्कि भक्ति मुक्तावस्था में है। मुक्तावस्था का भाव, भक्तिकालीन कवियों के आपसी मतभेद को कायम रखते हुए भी एक दूसरे के प्रति सम्मान और सहिष्णु बनाता है, जो भक्ति आंदोलन को ऊंचाई प्रदान करता है। मूल्य चेतना से लैस भक्ति एक आंदोलन का स्वरूप धारण करती है। आंदोलन इसलिए भी, क्योंकि भक्ति की अपनी परंपरागत धर्म विधियों और कर्मकांड के अलावा सभी कवि/रचनाकार समतामूलक भाव को सामाजिक संदर्भों से जोड़ कर भक्ति की नई परिभाषा गढ़ते हैं।

हिंदी साहित्य की भूमिका में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक चिंता की बात करते हैं। उन के लिए लोक शब्द महत्वपूर्ण है। इसी लोक शब्द में भक्ति आंदोलन का बीज छिपा है जो आगे चल कर भक्ति आंदोलन की मदद से लोकमंगल का विशाल वृक्ष बनता है। उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन का सूत्रपात निर्गुण संतो के माध्यम से आगे बढ़ता है। भक्ति आंदोलन के उदय के कारणों में प्रोफेसर इरफान हबीब इसे अवर्णों की आर्थिक स्थिति में सुधार और डा. सतीश चंद, बौद्ध और जैनियों की निश्प्राण साधना पद्धति के, अरबी चेतना तथा सूफियों के प्रभाव में देखते हैं। आबिद हुसैन ने अपनी किताब भारत की राष्ट्रीय संस्कृति में लिखो है–''मुसलमान सूफियों और हिंदू संतो द्वारा भक्तिधारा की मध्यस्थता की ऐतिहासिक भूमिका थी। नीची जाति के हिंदुओं के लिए सब से बड़ा आकर्षण इस्लाम के सामाजिक संगठन की ओर था जो समानता और बंधुता पर आधारित थे और अब भी उस में कुछ गुण विद्यमान हैं।''[1] एक दूसरी बड़ी ताकत जिस ने हिंदू और मुसलमानों के बीच सामान्य धार्मिक सद्भावना का वातावरण उत्पन्न किया, भक्ति आंदोलन था। बौद्ध-जैन परंपरा, ब्राह्मणवादी सत्ता का ह्रास और अवर्णों की आर्थिक स्थिति में सुधार, इन सभी परिस्थितियों में, दक्षिण भारत से आए भक्ति आंदोलन के प्रभाव को शामिल कर लिया जाए तो भक्ति आंदोलन के उदय को समझ सकते हैं। जातीय गुलामी के चंगुल से निकलने की छटपटाहट का भाव, समाज की पिछड़ी जातियों के बीच से निकलती है। जातीय असमानता की पीड़ा, अपनी महत्वपूर्ण भूमिका से भक्ति आंदोलन की दिशा को निर्धारित करती है जिस में शास्त्र के गैर बराबरी मानदंडों के खिलाफ, लोक का समतामूलक विचार सामने आता है। भक्तिकालीन काव्य लोकमानस का काव्य है। जातीयता का सामूहिकतावादी विचार, सामंती अंधविश्वास, कोरी भावुकता, वर्णाश्रम व्यवस्था और कर्मकांड के खिलाफ भक्ति आंदोलन से जुड़ा हुआ है। इसलिए यह भक्ति व्यक्तिवादी नहीं है। इस में मुक्ति सिर्फ एकाकी नहीं है। यह भक्ति सर्वहितकारी और सब को स्पेस देने वाली है।

भक्ति आंदोलन में निर्गुण काव्य के सामाजिक सरोकार की बात करें तो उस का मूल भाव क्रांतिकारी चेतना का है। भोगा हुआ यथार्थ, परिस्थितियों के बनने पर प्रस्फुटित होगा ही। ऐसा ही कुछ संत कवियों के साथ हुआ। कबीर की वाणी में एक तेवर, नाराजगी, विद्रोही स्वर देखने को मिलता है। जाति धर्म, स्वर्ग-नरक, मंदिर-मस्जिद, कर्मकांड और अंधविश्वास में जो समाजिकता और मनुष्यता के खिलाफ है, उस पर करारा प्रहार कबीर और अन्य संत कवियों के माध्यम से सुनने को मिलता है। व्यंग्यात्मक शैली किसी व्यक्ति को स्वर देता है। कबीर का व्यंग्य उसी तीव्रता को अभिव्यक्त करता है। कबीर की वाणियों में कुछ एक से हम उस भाव को समझ सकते हैं जो भक्ति आंदोलन का मुख्य स्वर है। जब वह कहते हैं–मैं कहता हौ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी। शास्त्रीय ज्ञान की तुलना में अनुभव सत्य या भोगा हुआ सत्य ज्यादा जीवंत और प्रभावशाली है। इसलिए आज आधुनिक काल में भी पढ़े-लिखे लोग, आधुनिकता के प्रतीकात्मक मानदंडों को दिखाते जरूर हैं, लेकिन ज्यादातर जाति, धर्म और स्त्री के मामले में आज भी अपने व्यवहार में दकियानूसी होते हैं। पुस्तक ज्ञान का महत्व कबीर नकारते नहीं हैं, लेकिन उस समय की परिस्थितियों में जब छोटी जाति के व्यक्ति के लिए पढ़ना-लिखना दूभर था, तो ऐसी स्थिति में अनुभव एक महत्वपूर्ण सहारा था। इसी को आगे बढ़ाते हुए कबीर कहते हैं–ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय। पांडित्य की परिभाषा को कबीर, प्रेम के सहज ज्ञान से बदल कर रख देते हैं। इसलिए संत कवि जिस ज्ञान के महत्व की बात करते हैं, उसी को आधुनिक समय में फूले-अंबेडकर ने भी कहा है। इस ज्ञान में पुस्तक है भी और नहीं भी। दोनों अपने-अपने समय काल के अनुसार हैं। खास बात तो यह भी है कि भक्ति आंदोलन की शुरुआत जिस निर्गुण भक्ति के माध्यम से हुई, उस भक्ति में पत्थर पूजन की कोई जगह भी नहीं थी। पुरजोर तरीके से निर्गुण धारा ने अपनी बात रखी। जिन मूल्यों को ले कर निर्गुण भक्ति चल रही थी, वह अपने आप में कोई नई नहीं थी। बौद्ध, जैन, आजीवक, और लोकायत आदि भौतिकवादी दर्शनों में निर्गुण भक्ति के आदि तत्वों को देखा जा सकता है। मूल्यों में परिवर्तन समय के अनुसार होता है।

सूफी संत धर्म के कट्टरपंथ से कोसों दूर हैं। पूरा का

पूरा सूफी काव्य प्रेमाख्यान है। मानुस प्रेम भयऊ बैकुंठी । नाहीं त काह छार इक मूठी। जायसी की इन पंक्तियों में सूफी दर्शन का सार है। सूफी कवि मुसलमान होते हुए भी अपनी रचना का विषय भारत के प्रचलित लोक कथाओं से चुनते हैं। चंदा-लोरीक, पद्मावती, इंद्रावती इत्यादि। भारत की संपूर्ण संस्कृति का तत्व जिस में खानपान, त्योहार और मान्यताएं इत्यादि सूफी काव्य में मौजूद हैं। सूफी कवियों ने अपने रचना कर्म के माध्यम से प्रेम को साबित किया है। आज वर्तमान समय में भी प्रेम अपनी जाति, धर्म और संस्कृति में होना परंपरागत ही माना जायेगा। दूसरी जाति, धर्म और संस्कृति से प्रेम होना मनुष्यता के दृष्टिकोण से ज्यादा सार्थक माना जायेगा। सिर्फ अपनो के प्रति प्रेम का आग्रह, पूर्व निर्धारित संस्कार से आ जाते हैं। दूसरे के प्रति प्रेम का आग्रह हमारी चेतना को दर्शाता है। सूफी परंपरा ने भारतीय संस्कृति में हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के टकराव को दरकिनार करते हुए, आत्मीयता के साथ सांप्रदायिक सद्भाव का प्रतीक बना है। जायसी लिखते हैं–बिरिछ एक लागी दुई डारा। एकहि से नाना परकारा।। मातु के रकत पिता के बिन्दु। उपजे दूवौ तुरुक औ हिन्दू।। एक ही प्रकार के वृक्ष से दो डालियाँ निकली जिस को जायसी हिंदू और तुर्क बताते हैं।

तत्कालीन शासन के धर्म से नाता सूफियों का था। फिर भी भारतीय लोक तत्व को अपने भक्ति के लिए आधार बनाया। धर्म-संस्कृति के इस द्वंद की भक्ति में समझने वाली बात यह है कि सूफी इस हिन्दुस्तान की मिट्टी में बस कर घुल-मिल गए तो उन की भक्ति का आलंबन भी भारत की संस्कृति हो गई। संत कवियों ने भक्ति के लिए तार्किक और ज्ञान को अपना मूल्य बनाया। वहीं सूफियों ने प्रेम को।

जब सगुण काव्यधारा की बात करते हैं तो निर्गुण काव्य की तुलना में सीधे-सीधे समतामूलक संवाद तो नहीं करता है। इस में कोई संदेह नहीं है कि राम और कृष्ण काव्य, दोनों प्रेम और समरसता के भाव की कथा को पिरोते हैं। निर्गुण काव्य की ज्ञानधारा जातीय भेदभाव से निकलने की छटपटाहट के भाव को रखता है। उस में कोई वायवीयता या घुमा कर कहने वाली स्थिति नहीं है। वहीं निर्गुण ज्ञान और प्रेम के प्रभाव में, मनुष्य होने के लिए क्या मूल्य हो? इस के लिए सीधा संवाद करते हैं। कबीर हों, रैदास हों या सूफी संत, सभी की भक्ति अपनी-अपनी पद्धतियों में रहस्यवादी जरूर हो जाती है। लेकिन सामाजिक सरोकार की बात ज्ञानमार्गी निर्गुण काव्य स्पष्ट तौर पर करता है। सामाजिक बदलाव को ले कर सगुण काव्य सीधे-सीधे अपील कम करता है। उन का समाजिक भाव, राम और कृष्ण कथा की लीला के माध्यम से स्पष्ट हो रही है। बात को साफ-साफ कहने के अपने सामाजिक-धार्मिक दबाव हैं। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं–''सूर की कविता अपने समय के समाज के पीछे चलने या उस की आलोचना करने के स्थान पर उस सामंती समाज की व्यवस्थाओं, संस्थाओं और रूढ़ियों के दमनकारी प्रभावों का निषेध करती हुई एक ऐसे समाज की रचना करती है जिस में लोक और शास्त्र के बंधनों से स्वतंत्र मानवीय भावों और मानवीय संबंधों का सहज स्वाभाविक विकास संभव हुआ है''[2] कृष्ण लीला में ग्वाल-गोपियां समरसता के साथ सामाजिक प्रेम को प्रदर्शित करते हैं जिसे किसानी और चारागाही संस्कृति के भीतर सूरदास ने पेश किया है। कृष्ण काव्य के भक्ति की मूल्य चेतना में स्त्री, भक्ति कालीन किसी भी काव्य की तुलना में ज्यादा आजाद और बराबर नजर आती हैं। सूफियों की तरह कृष्ण काव्य का मूल्य भी प्रेम है। इस प्रेम में किसी से बैर नहीं है। कुछ इसी तरह की स्थिति राम काव्य में भी है जो अपने अलावा किसी भी दूसरों के विचार को स्पेस देती है। उन के दार्शनिक मतभेद हैं। लेकिन कटुता नहीं है। निर्गुण-सगुण शैव-वैष्णव विवाद को सिर्फ वैचारिक फलक तक हीं सीमित रखा है। वर्णव्यवस्था के दायरे में ही सही, तुलसी के राम काव्य में लोकतंत्र की प्रतिष्ठा का भाव है।

संस्कृत के राम और अवधी के राम में अंतर है। तुलसीदास के राम सब के राम हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं–''तुलसीदास को जो अभूतपूर्व सफलता मिली उस का कारण यह था कि वह समन्वय की विशाल बुद्धि ले कर उत्पन्न हुए थे। भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य ले कर आया हो।''[3] इसलिए तुलसी का काव्य राम भक्ति के मूल्य के माध्यम से लोकतंत्र की प्रतिष्ठा करने की कोशिश करता है। मानस में बाबरी, केवट, चित्रकूट इत्यादि प्रसंग सामाजिक-सांस्कृतिक सम्बन्धों की सहजता को प्रतिबिंबित करता है। लोकप्रिय राम कथा को और ज्यादा प्रसिद्धि तुलसी के प्रयासों से ही मिलती है। सब से बड़ी बात है कि आंदोलन की चेतना जगाने के लिए भाषा जब तक लोक समाज की नहीं होगी, तब तक सही मायनों में किसी भी लहर को आंदोलन नहीं कहा जा सकता है। भाषा मन का द्वार है। तुलसी संस्कृत भाषा के बेहतरीन जानकार थे इस के बावजूद, उन्होंने रामचरितमानस अवधी भाषा में लिखा जो सामान्य जन की भाषा थी। भक्ति आंदोलन भाषा के परंपरागत मूल्य को तोड़ कर आम आदमी की प्रतिष्ठा करता है। सभी भक्तिकालीन कवियों की भाषा सामान्य

जन की भाषा है। संस्कृत है कूप जल भाषा बहता नीर। संस्कृत कुछ विशेष जाति के लोग प्रयोग करते हैं। भाषा तो लोक मानस की है जो संस्कृत के पहले से प्राकृत के तौर पर मौजूद रही है। भक्ति के शास्त्रीय मूल्य के समक्ष लोक की प्रतिष्ठा में लोक भाषा का महत्वपूर्ण योगदान है। वैसे, शास्त्रीयता का रूढ़ भाव या विचार भाषा को परे रख कर भी लोक के मानस में अपनी जगह बना लेता है। रीतिबद्ध कवियों की भाषा संस्कृत नहीं थी, लेकिन लोकभाषा ब्रज को संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय शिल्प और भाव से भर दिया। केशवदास, मतिराम इस के उदाहरण हैं। ऐसे में भाषा का महत्व बिना सजग विचार के दिशाहीन हो जायेगा।

भक्तिकाल में लोकभाषा का मूल्य आम आदमी की प्रतिष्ठा में है। भक्तिकालीन कवियों के विचारों में समष्टि का भाव है, इसलिए भाषा भी लोक की सामूहिक भागीदारी को शामिल करने का प्रयत्न है। इन्हीं कारणों से भक्ति आंदोलन जनव्यापी हो जाता है। शिवकुमार मिश्र लिखते हैं–''ये मध्यकालीन संत हमारे सामने इस बात की जरूरत को रेखांकित करते हैं कि मध्यकालीन बोध और आधुनिक बोध की पहचान समय के गति चक्र से न हो कर विचारधारा, मूल्य-व्यवस्था और उन से जुड़ी मानसिकता के आधार पर हो।''[4] मध्ययुगीनता से आधुनिकता की मानसिकता की मूल्य चेतना को हम अगर कम शब्दों में समझना चाहें तो उसे लोक भाषा, लोक समाज, समन्वय, प्रेम और सामूहिकता के भाव से समझ सकते हैं। ये वो घटक हैं जिस में भक्तिकाल का सार्थक प्रयास अपने देश-समाज के लिए नजर आता है।

## संदर्भ


1. भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, आबिद हुसैन, पृ. 74
2. सूरदास मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन, संपादक, परमानन्द श्रीवास्तव, पृ. 51
3. तुलसी, संपादक, उदयभानु सिंह, पृ. 235
4. भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, शिवकुमार मिश्र, पृ. 178



**डा. कुमार भास्कर**
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
शहीद भगत सिंह कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

# *स्त्री-संघर्ष का समकालीन इतिहास*

*—डा. रेखा सिंह*

21वीं सदी के प्रारम्भिक चरण को भारत ने स्त्री-सशक्तीकरण का वर्ष घोषित किया था। स्त्री-सशक्तीकरण की घोषणा ही उस के संघर्ष का प्रतीक है। आजादी के दशकों बाद भी स्त्री-संघर्ष की अनवरत पीड़ाएं जारी हैं। आधुनिक भारत के स्वप्नदर्शी बाबा साहेब डा. भीमराव अम्बेडकर का स्त्री-संघर्ष को ले कर एक वक्तव्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा, ''किसी समाज की प्रगति का मापदंड उस समाज में महिला की प्रगति से जाना जा सकता है।'' सदियों से भारतीय समाज में महिला की प्रगति अवरुद्ध रही है। भारतीय संविधान समानता का अधिकार प्रदान करता है लेकिन व्यावहारिक तौर पर आज भी भारतीय स्त्री पराधीनता की मुक्ति के लिए संघर्षरत है। भारत में स्त्रियों की मुक्ति का आन्दोलन बहुत कमजोर है, क्योंकि भारतीय स्त्रियों में अस्मिता का बोध पुरुष वर्चस्ववादी अधीनता में निहित है। आज भी स्त्रियों की अस्मिता बोध उन के पुरुष साथी के अस्मिताओं में अन्तर्निहित है। यह सोच एवं चिन्तन भारत के अतीत की देन है जो सदियों से पुरुषों का वर्चस्व रहा है।

उत्तर-आधुनिकता के दौर में अस्मिताओं का संघर्ष जारी है। पिछले सौ वर्षों में स्त्रियों की स्थिति में बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। यह परिवर्तन स्त्रियों की आत्मचेतना को जगाने में सहायक है। भारतीय सामाजिक संरचना गैर-बराबरी की रही है, उस में सब से बड़ी उपेक्षा स्त्रियों की हुई है। सामाजिक संरचनाओं में परिवर्तन की आवाज शिक्षा के कारण हुई जो शिक्षा स्त्री के लिए कभी स्वीकार नहीं की जाती थी। आज वही शिक्षा स्त्रियों के लिए भी सर्वसुलभ है। शिक्षा ने उन्हें अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। यही कारण है कि स्त्रियाँ भी आज जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी कर रही हैं। सैद्धांतिक रूप से स्त्रियों को बहुत सारे संवैधानिक अधिकार दिए गए हैं। लेकिन व्यावहारिक रूप से आज भी वह अपने अधिकारों से वंचित है।

पुरुषवादी वर्चस्व में पैतृक संपत्ति आज भी पुरुषोचित संपत्ति है। ''भारत की ज्यादातर स्त्रियों को विरासत की संपत्ति नहीं मिलती। आज भी नये कानून के प्रावधान के बावजूद, सामान्यतः स्त्रियों को यह हक नहीं मिलता।''[1] भारतीय स्त्रियाँ अपनी नैतिक मर्यादाओं में कैद हैं। वह तमाम कष्ट एवं असहाय पीड़ा में रहना पसंद करती हैं लेकिन अपने माँ-पिता की संपत्ति में अधिकार की मांग नहीं करती, जबकि भारतीय कानून व्यवस्था उन के पक्ष में है। पितृसत्तात्मक

सामाजिक व्यवस्था में स्त्री एक गुलाम की तरह है। बचपन में पिता के संरक्षण, यौवन में पति के संरक्षण एवं वृद्ध अवस्था में बेटे के संरक्षण में रहना उस की नियति है। अस्मिताओं के संघर्ष में भारतीय महिलाओं को अपने अधिकार के लिए सजग रहना होगा, यह समझना होगा कि शोषित होना उन की नियति नहीं है बल्कि जो संपत्ति का अधिकार उसे संविधान देता है, उसे सहज स्वीकारना होगा। उस की आर्थिक उन्नति ही उस का समाधान है। हमारा अतीत ही महिलाओं को स्वतंत्र अधिकार से वंचित रखता है। ''वैदिक काल में स्त्रियों के प्रति सम्मानपूर्ण दृष्टि की उपस्थिति के अनेक प्रमाण होने के बाद भी प्रथम महत्ता पुरुष को ही प्राप्त थी।''[2] भारतीय महिलाओं के संघर्ष की लम्बी फेहरिस्त है। भारतीय सामाजिक संरचना में सिर्फ औरत ही नहीं दलित भी शोषित है। दलित में जन्म लेना ही उस के जीवन का अभिशाप है। यह ओमप्रकाश वाल्मिकि की आत्मकथा 'जूठन' से जाना जा सकता है। किसी व्यक्ति का जन्म लेना उस के वश में नहीं है, फिर भी वह व्यक्ति किसी खास वर्ग में जन्म ले कर उपेक्षा का शिकार होता है। दूसरी तरफ औरत के साथ भी जन्म के साथ ही भेदभाव किया जाता है। स्त्रियों के साथ कई स्तरों पर शोषण होता है। स्त्री चाहे जिस कुल, वर्ग और सम्प्रदाय की हो, उस का अलिखित शोषण जारी है। ''दरअसल, सब कायदे-कानून कागजी बने रहे लेकिन समाज ने इन प्रावधानों को मन से नहीं कबूला। जो ये सब लागू करता है, वह सब भी प्रायः मर्दवादी मानसिकता से ग्रस्त पुरुष ही है, इसलिए पुरुष मानसिकता और पुरुष अहंकार से वे ग्रसित हैं।''[3] भारतीय समाज में स्त्रियों की दयनीय दशा भी पुरुषवादी सत्ता के कारण है। साथ ही इस की जिम्मेदार स्वयं स्त्रियाँ भी हैं जो अपने अधिकार के लिए सजग नहीं हैं और जो पुरुषों के अस्तित्व में ही अपनी अस्मिता को तलाशती रहती हैं।

शिक्षा एक शस्त्र है जो अपने प्रति, अपने समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति एक जिम्मेदार नागरिक बनाती है। शिक्षा के कारण वैज्ञानिक और तर्कशील बोध जागृत होता है। यदि स्त्रियाँ सदियों से अशिक्षित रही हैं, जिस का कारण भी हमारी सामाजिक संरचना है, ऐसे में महिलाओं के लिए शिक्षा कितनी अनिवार्य है, यह जानना बेहद जरूरी है। महिलाएं शिक्षा के कारण स्वयं अपने अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करती हैं, साथ ही एक शिक्षित स्त्री शिक्षा का उपयोग, अपने पूरे परिवार, समाज को साक्षर बनाने में करती है। स्त्रियों की भूमिका सिर्फ घर में नहीं होती बल्कि देश के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों में उस की भागीदारी होती है। शिक्षित महिलाएं एक अच्छे राष्ट्र निर्माण में सराहनीय योगदान कर सकती हैं। आज के दौर में महिलाएं यदि पुरुषों से बराबरी की प्रतिस्पर्धा कर रही हैं तो उस का बड़ा कारण शिक्षा ही है। आधुनिक युग में यदि महिलाएं शिक्षा के प्रति जागरूक हुई हैं तो इस का श्रेय राजा राममोहन रॉय और ईश्वरचंद विद्यासागर को जाता है जिन्होंने बहुत सारे विरोध का सामना करते हुए स्त्री शिक्षा के महत्व को समझा। शिक्षा, संस्कृति का अभिन्न अंग है। शिक्षा के बिना संस्कार नहीं सीखा जा सकता है। एक शिक्षित माँ अपने बच्चे को अच्छा संस्कार दे सकती है। इन सब के बावजूद, विडम्बना यह है कि हमारे समाज के अंदर आज भी स्त्री-पुरुष के शिक्षा को ले कर असमानता व भेद-भाव किया जाता है। बहुत सारे परिवारों में सिर्फ पुरुषों को ही शिक्षा का अधिकार दिया जाता है। यदि महिला को सशक्तीकरण करना है तो स्त्री शिक्षा को विशेष महत्व देना होगा। स्त्री शिक्षा के बिना एक विकसित राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती है। स्त्री शिक्षा की अनिवार्यता इस समाज और राष्ट्र दोनों को है। शिक्षा के साथ-साथ रोजगार एक आवश्यक पहलू है, स्त्रियों के उत्थान के लिए। शिक्षा रोजगार पाने का अवसर भी प्रदान करती है। यदि स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाना है तो शिक्षा के साथ-साथ रोजगार के अवसर को तलाशना होगा। भारतीय सामाजिक संरचना अतीत में स्त्रियों को बाहर जा कर काम करने की अनुमति नहीं प्रदान करता था। आज भी हमारे समाज में ऐसे बहुतेरे परिवार मिल जायेंगे जो स्त्रियों को स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता। शिक्षा रोजगार का साधन है एवं रोजगार स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाता है।

भारतीय स्त्रियों के लिए संसद में महिला आरक्षण बिल वर्षों से लम्बित है। महिलाओं की सशक्तीकरण के लिए यह आवश्यक है कि उन में राजनैतिक चेतना जागृत हो। स्त्रियों को जब तक स्वतंत्र राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं होंगे, तब तक उन की मुक्ति संभव नहीं है। स्त्रियों की राजनैतिक स्वतंत्रता महिला आरक्षण से ही संभव है लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण है। ''आज जब लोकसभा में औरत को औरत के नाते यानी औरत जात (प्रजाति) के नाते 33 प्रतिशत आरक्षण का बिल पेश होने की बात आई तब सभी अगड़ी-पिछड़ी जातियों के लोग औरत को अपनी-अपनी जाति की बताकर, जैसे कि वे उन की सम्पत्ति हों, उन के अधिकारों के लिए चिन्ता जताने लगे।''[4] जब भी हमारे समाज में स्त्री अस्मिता की बात होती है, उस समय सभी जाति या सम्प्रदाय के पुरुष एक जैसे बात करने लगते हैं, मानों यहाँ सभी पुरुषों की समस्या स्त्री है।

भारतीय संविधान स्त्रियों की समानता और उस के

अधिकार की सुरक्षा के संरक्षण के लिए बहुत सारे अधिकार देता है लेकिन यह विडम्बना है कि व्यावहारिक तौर पर यह संभव नहीं हो पाता है। इस का सब से बड़ा कारण स्वयं स्त्री ही है। उत्तर-आधुनिकतावाद ने हाशिए से विकास तक का जो सफर तय किया, उस में स्त्री सब से पिछड़ी हुई प्राणी है। पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्रियों की हैसियत उन के पुरुष साथी में ही अन्तर्निहित है। यह कमजोरी स्वयं स्त्रियों की है। हमारे समाज के लिए स्त्री-पुरुष दोनों आधार स्तम्भ हैं। दोनों एक-दूसरे के पर्याय भी हैं, लेकिन इन सब के बीच यदि नैतिकताओं का सवाल आता है तो सारी नैतिकताओं का बंधन सिर्फ स्त्रियों के लिए क्यों हो जाता है। क्या नैतिकताओं की जिम्मेदारी सिर्फ स्त्रियों की ही है? यह नैतिक सवाल पुरुषवादी विचारों से पूछा जाना चाहिए। स्त्रियों का शोषण नैतिकता का आडम्बर ओढ़ कर की जाती रही है, जबकि नैतिकता की जिम्मेदारी स्त्री एवं पुरुष दोनों की एक समान होना चाहिए।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में महिला सशक्तीकरण की आवाज बहुत तेजी से मुखर हुई है। हिन्दी-साहित्य में यह स्त्री-विमर्श के रूप में चिन्हित की जाने लगी। अब स्त्रियाँ ही अपने अनुभव संसार को सृजन करती हैं। ''वस्तुतः स्त्रियाँ ही नारी जगत को पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा आन्तरिकता से जानती हैं, क्योंकि उन की जड़ें इस में निहित हैं।''[5] समकालीन दौर में पुरुष लेखकों की तरह स्त्री लेखिका भी अपने अनुभव को सृजन के माध्यम से साझा कर रही हैं। उन साहित्यिक विधाओं में 'आत्मकथा' एक सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम है। स्त्री-आत्मकथा महत्वपूर्ण तब और हो जाती है जब उन के स्वयं का अनुभव उन का नहीं रह कर अन्य सभी स्त्रियों का हो जाता है। स्त्री-विमर्श न केवल एक साहित्यिक विमर्श है, बल्कि इस का आधार सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक भी है। समकालीन दौर में स्त्री-अस्मिता की पहचान स्त्री-विमर्श में खोजी जा रही है। स्त्री-विमर्श महिला सशक्तीकरण की सशक्त आवाज है।

स्त्रियों की पराधीनता उस की स्वीकार्यता में है। यदि स्त्रियाँ अपने शोषण के विरुद्ध प्रतिकार करने लगेंगी, उस दिन स्त्रियों के शोषण की मुक्ति आरम्भ हो जायेगी। लेकिन ''अन्य देशों की बजाए भारत में औरतों को प्रेरित करने में बहुत कठिनाई आती है क्योंकि वे स्वयं अपने को हीन मानती हैं और आत्मसम्मान का कोई अहसास भी वे नहीं पालतीं।''[6] समकालीन दौर में शिक्षा के कारण स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन लक्षित किया जा सकता है। आज की स्त्रियाँ लड़ाकू विमान चला रही हैं, कई बड़ी कम्पनियों की सी. ई. ओ. भी हैं, निरंतर आगे बढ़ रही हैं। जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों की प्रतिस्पर्धा में प्रतियोगी बन रही हैं। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि आज भी यह सब कुछ शहरों में सिमटा हुआ है, जबकि स्त्रियों की बहुत बड़ी जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। नारी-मुक्ति का समाधान उन की अपनी अस्मित-बोध में छिपा है। अस्मिता-बोध की जागृति नारी-मुक्ति में अन्तर्निहित है। भारतीय स्त्रियों की शोषण से मुक्ति के तमाम दावे किए जाते हैं लेकिन यथार्थ इस के विपरीत है। ''स्त्री-प्रश्न के चाहे जितने भी समाधान और चाहे जितनी भी व्याख्याएं आज प्रस्तुत की जा रही हों, इतिहास की यह सच्चाई निर्विवाद है कि परस्पर-विरोधी वर्गों वाली सभी सामाजिक संस्थाओं में, समाज और परिवार में स्त्री की स्थिति मातहत की रही है और इसे धर्म की स्वीकृति प्राप्त रही है।''[7] भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियाँ आज भी हाशिये का हिस्सा हैं। स्त्रियाँ जितना जन्म लेती हैं, उन में से बहुतों को तो गर्भ में ही मार दिया जाता है। आधुनिक समाज में भी स्त्रियों के प्रति भेदभाव बंद नहीं हुआ है, अपितु निरंतर जारी है।

## संदर्भ


1. स्त्री के लिए जगह, सं. राजकिशोर, पृ. 61
2. स्त्री-विमर्श, चन्द्रशेखर त्रिपाठी, पृ. 2
3. स्त्री-विमर्श, रमणिका गुप्ता, पृ. 30
4. वही, पृ. 31
5. स्त्री उपेक्षिता, लेखिका की भूमिका, पृ. 30
6. स्त्री-विमर्श, रमणिका गुप्ता, पृ. 24
7. स्त्रियों की पराधीनता, जॉन स्टुअर्ट मिल, अनु. प्रगति सक्सेना, पृ.10



**डा. रेखा सिंह**
शालीमार बाग, दिल्ली-88
मो-9968382932

# *दलित साहित्य आन्दोलन और अनुवाद की भूमिका*

*–निरंजन राव*

भारतीय दलित साहित्य आन्दोलन का विकास तब हुआ है, जब आन्दोलन के नारे, घोषणा पत्र तथा कृतियाँ अनूदित हो कर इतर भाषा भाषियों तक पहुंचे हैं। यह आन्दोलन जब शब्दों के माध्यम से साहित्य में कदम रखा तो विमर्श के रूप में उस की पहचान बनी। दलित साहित्य का सृजन मराठी, गुजराती, बांग्ला, पंजाबी, उड़िया और हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में हुआ है। इन आन्दोलनों और विमर्शों को भाषायी क्षेत्र से बाहर निकाल कर अनुवाद ने गति प्रदान की है। आज भारतीय दलित साहित्य और आन्दोलन को भारत और विश्व में जो पहचान प्राप्त हुई है उस का श्रेय 'अनुवाद' को भी दिया जा सकता है।

अनुवाद परस्पर दो संस्कृतियों के मध्य संवाद स्थापित करता है। हिन्दी का दलित साहित्य मराठी के साहित्य और आन्दोलन से प्रेरणा लेता है। यह प्रेरणा अनुवाद के माध्यम से ही संभव हो पायी है। मराठी दलित साहित्य के बारे में शरणकुमार कुमार लिम्बाले ने लिखा है–'' इस साहित्य का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद हुआ जिस के कारण अन्य भाषाओं में भी दलित साहित्य जन्मा। हिन्दी, कन्नड़, पंजाबी, गुजराती, तमिल, तेलुगू और मलयालम में दलित साहित्य का निर्माण होने लगा। दलित लेखकों ने अपने-अपने राज्यों में अपनी-अपनी भाषाओं में संगठन स्थापित किये। दलित साहित्य पर संगोष्ठी शुरू की जिस के चलते भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य का उदय हुआ''[1] महात्मा ज्योतिबा फुले का सम्पूर्ण साहित्य 'महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली' भाग एक और भाग दो नाम से मराठी तथा अंग्रेजी भाषा में मिलता है। महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली का हिन्दी अनुवाद सन् 1994 में एल. जी. मेश्राम 'विमलकीर्ति' ने किया जिस के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है–''प्रसन्नता का विषय है कि मानवीय गरिमा के पक्ष में निरंतर संघर्ष करने वाले उस महान क्रांतिचेता की समग्र रचनाएं दो खंडो में हिन्दी पाठकों तक पहुंच रही हैं। हिन्दी जगत में निश्चय ही स्वागत होगा, ऐसा मेरा विश्वास है''[2]

हिन्दी में दलित साहित्य का लेखन व पठन-पाठन लगातार हो रहा है। हिन्दी दलित रचनाओं का अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में भी हो रहा है। जाति आधारित घटनाओं, हिंसा, शोषण का संज्ञान ले कर दलित लेखक साहित्य की विभिन्न विधाओं में लेखन कार्य कर रहे हैं। इन रचनाओं के अनुवाद भी लगातार हो रहें हैं। यूं, अनुवाद की भूमिका

लगातार मजबूत और प्रासांगिक होती जा रही है। मराठी अनुवादक निशिकांत ठकार ने अनुवाद की महत्ता पर जोर देते हुए लिखा है–''अब हिन्दी में मौलिक दलित साहित्य और समीक्षा ने अपनी अहमियत बनायी है।''[3]

निशिकांत ठकार मौलिक और अनूदित रचनाओं के जिस माध्यम की बात कर रहे हैं, वह अस्मितामूलक विमर्श की आधार भूमि तैयार करता है। ऐसे अनेक तथ्यों का उल्लेख किया जा सकता है जो अनूदित रचनाओं की भूमिका निभाते हैं। हिंदी प्रदेश के पाठक लेखक अब स्वयं को अखिल भारतीय दलित साहित्य की अवधारणा के साथ जुड़ा हुआ महसूस करते हैं। अस्मितावादी आंदोलन को इस से गति मिली है। देश के स्तर पर दलित साहित्य कुछ मूलभूत कारकों से बनता दिखाई देता है। बजरंग बिहारी तिवारी ने लिखा है–''पारंपरिक साहित्य कला के नियमों के दायरे में रह कर लिखा जाता है और दलित साहित्य अनुभव से बनता है''[4] इस दलित अनुभव के मुख्यतः तीन क्षेत्र हैं अवमानना, भूख और हिंसा। अवमानना का संबंध आत्मसम्मान के नकार से है। एक दलित को मनुष्य मानने से इनकार करना या उसे कमतर हीनतर मानना ही अवमानना है। भूख का स्रोत आर्थिक संरचना में है। उत्पादन के साधनों का असमान वितरण और प्राकृतिक संसाधनों पर एक खास तबके का वर्चस्व शेष आबादी को भूखा रखते हैं। अनुभव का तीसरा क्षेत्र हिंसा है। इस हिंसा को भौतिक हिंसा कहना आवश्यक है क्योंकि शेष दोनों अनुभव भी हिंसा के ही अंतर्गत आते हैं। उक्त तीनों कारक हिंदी तथा भारतीय भाषाओं के जीवन व साहित्य में अलग-अलग रूपों व प्रकारों में मिलते हैं। अनुदित कृतियाँ जिन में आलोचना भी है, के द्वारा हम इस का एक पारिभाषिक रूप समझ पाते हैं। अपने सूक्ष्म रूप में यह अस्मिता और अस्मितावादी आंदोलन का निर्णायक बिंदु है। अनूदित साहित्य पाठक वर्ग में एक आंदोलनधर्मी चेतना का निर्माण करता है। उस से प्रेरित विचार न केवल साहित्य बल्कि आंदोलन की रचना भी करते हैं। न केवल मराठी बल्कि अन्य भाषाओं के साहित्य, आंदोलन को भी दलित पैंथर आंदोलन तथा अनूदित मराठी साहित्य ने प्रभावित प्रेरित किया है। नीरव पटेल ने लिखा है–''गुजरात में 'आधुनिक दलित लेखन' या दलित साहित्य की शुरूआत दलित पैंथर मूवमेंट से जुड़ी है, जो महाराष्ट्र दलित पैंथर से प्रेरणा ले कर सन 1982 में उभरा था। उस के मुखपत्र 'पैंथर' में लेख रिपोर्ट आदि के अलावा कभी-कभी कविता, कहानी भी छपते थे जो अधिकतर मराठी से अनूदित होते थे''[5]

दलित पैंथर आन्दोलन से दलित साहित्य की गूंज पंजाब तक पहुंच चुकी थी। इस आन्दोलन के कारण ही भारत के विभिन्न राज्यों में दलित लेखन परम्परा शुरू होती है। पंजाब के फगवाड़ा शहर में 13-14 मार्च, 1994 को पहला दलित साहित्य सम्मेलन संपन्न हुआ था। पंजाबी दलित साहित्य में आत्मकथा, कहानी, कविता, उपन्यास, आलेख, मूल्यांकन, विचार लेख, नाटक, संस्मरण और साक्षात्कार आदि साहित्य की सभी विधाओं में लेखन मिलता है। द्वारका भारती अनुवाद की महत्ता को समझाते हुए पंजाबी दलित साहित्य के सन्दर्भ में लिखते हैं–''मराठी साहित्य के पंजाबी अनुवाद प्रकाशित होने के बाद पंजाबी दलित साहित्य को नहीं पंजाबी साहित्य को भी पैनेपन की एक नई धार मिली है। मराठी के सिरमौर दलित लेखक श्री शरण कुमार लिम्बाले की आत्मकथा 'अक्करमाशी' के पंजाबी अनुवाद ने पंजाबी दलित साहित्य में वैसा ही तहलका मचाया जैसे रणसुभे के हिन्दी अनुवाद ने मचाया था। इस पंजाबी अनुवाद ने पाठकों को यह अहसास करवाया कि अभी पंजाबी भाषा में लिखी गई गैर दलित आत्मकथाओं को बहुत कुछ सीखना है''[6]

बांग्ला में दलित साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा थोडी देर से आया है। जिस प्रकार हिन्दी दलित साहित्य मराठी दलित साहित्य के अनुवाद से प्रेरित है। उसी प्रकार बांग्ला दलित साहित्य भी अन्य भारतीय भाषाओं के अनुवाद होने के बाद लिखा जाने लगा। बांग्ला दलित साहित्य की विशेषता है कि वहाँ 'अ-शिकायत' शैली का प्रयोग हुआ है जो अन्य भारतीय भाषाओं में देखने को नहीं मिलता है। डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी इस कथन की पुष्टि करते हुए लिखते हैं–''बांग्ला दलित साहित्य की जो खूबी उसे अन्य भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे दलित साहित्य से अलग करती है वह है उस का अ-शिकायती लहजा। बांग्ला दलित लेखक किसी के समक्ष शिकायतों का पुलिंदा ले कर प्रस्तुत नहीं होते। वैसे तो कई भाषाओं के दलित साहित्यकार धीरे-धीरे 'शिकायती-शैली' की व्यर्थता समझ गए हैं और उन्होंने अपने को इस से मुक्त कर लिया लेकिन यह विशेषता बांग्ला दलित लेखन में प्रारंभ से ही दिखती है''[7]

दलित साहित्य के अनुवाद की परंपरा में विभिन्न साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जिस प्रकार हम प्रगतिशील आंदोलन को मार्क्सवादी चेतना के साथ जोड़ कर देखते हैं, उसी प्रकार दलित साहित्य आंदोलन को अंबेडकरवादी

चेतना से जोड़ कर देखा जाता है। अन्य विचारक भी सामाजिक साहित्यिक और राजनीतिक आंदोलनों में अनुसंग हो कर चलते हैं। तपन बासु द्वारा संपादित पुस्तक 'ट्रांसलेटिंग कास्ट' में एच. एस. शिवप्रकाश कन्नड़ भाषी दलित साहित्य आंदोलन के संदर्भ में 'दलित बंध्या आंदोलन'[8] और 'दलित पैंथर'[9] के प्रभाव का वर्णन करते हैं। यह अस्सी के दशक और आपातकाल का वह दौर था जहाँ देश की स्थिति पर तो विचार था परंतु मुख्यधारा की राजनीति और मुख्यधारा का साहित्य दलितों की स्थिति पर अब भी विचार नहीं कर रहा था, जबकि स्वतंत्रता प्राप्त हुए तीन दशक से अधिक समय बीत चुका था। दलित अस्मिता का जो प्रश्न आजादी के आंदोलन के समय से आजादी के बाद तक लगातार दबाया जा रहा था, वह अब डॉ. अंबेडकर की बौद्धिक ऊर्जा से और दलित पैंथर से प्रेरित, प्रभावित हो कर मजबूती से समाज के बीच में था।

इसी प्रकार का प्रभाव और परिवर्तन मराठी में भी देखा जा सकता है। 1950 के आस-पास पहले मराठी शिक्षित युवा दलितों जिन में घनश्याम तलवाडकर और अन्य सदस्यों द्वारा साहित्यिक संघ 'सिद्धार्थ साहित्य संघ'[10] बनाया। इस साहित्य संघ के पश्चात ही 1958 में 'दलित साहित्य संघ'[11] बनाया गया। इस समय का दलित साहित्य 'प्रबुद्ध भारत'[12], जो रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया का मुखपत्र था, में प्रकाशित होता था। डॉ. अंबेडकर द्वारा विश्व का पहला धर्मांतरण 14 अक्टूबर, 1956 नागपुर में संपन्न हुआ। यह मात्र धर्मांतरण नहीं था बल्कि एक सामाजिक सांस्कृतिक बदलाव भी था। दलितों को अब एक नए सांस्कृतिक जीवन का रास्ता मिल गया।

दलित लेखकों का पहला दलित सम्मेलन सन 1958 में महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ द्वारा मुंबई में आयोजित किया। अन्य भाषायी क्षेत्रों में भी अनुवाद द्वारा आए सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों को चिन्हित किया जा सकता है।

कुशल अनुवाद से प्रेरित और प्रभावित सृजनात्मक साहित्य की न केवल रचना हुई बल्कि एक सांस्कृतिक आंदोलन भी खड़ा हुआ। सुप्रसिद्ध लेखक और अनुवादक डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे अनुवाद को मात्र 'भाषिक कर्म' नहीं 'एक सांस्कृतिक आंदोलन' मानते हैं। अपनी पुस्तक 'अनुवाद का समाजशास्त्र' में उन्होंने लिखा है—''अनुवाद सृजनात्मक साहित्य का हो अथवा वैचारिक साहित्य का वह एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। इस मूलभूत सत्य को इधर के अनुवादक भूलते जा रहे हैं। इस सांस्कृतिक आन्दोलन का सम्बन्ध मूल्य-व्यवस्था के साथ है, जीवन शैली के साथ है। आज की व्यवस्था के साथ है''[19]

प्रस्तुत स्थापना में वे शरतचंद्र के उपन्यासों के मराठी अनुवादों के बाद मराठी में आए साहित्यिक परिवर्तन को चिन्हित करते हैं। जोतिबा फुले की रचनाओं का हिंदी में अनुवाद होने के बाद हिंदी क्षेत्र में आए बौद्धिक परिवर्तन का उल्लेख करते हैं। इस उपक्रम में वह मार्क्स और अंबेडकर की रचनाओं को अन्य भारतीय भाषाओं में हुए अनुवादों का भी उदाहरण देते हैं। साथ ही प्रेमचंद के अनुवादों से सृजनात्मक साहित्य में जो परिवर्तन हुआ किसानों और दलितों को ले कर परिवर्तित दृष्टिकोण का उल्लेख भी करते हैं। मराठी के दलित साहित्य का हिंदी में अनुवाद होने के बाद हिंदी क्षेत्र में आत्मकथा, कविता, कहानी और नाटक इत्यादि के विकास को अनुवाद से जोड कर देखते हैं। ''इसी समय मराठी के दलित साहित्य की विभिन्न रचनाओं के अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने लगे। उन्हें पढ़ कर नवशिक्षित सम्वेदनशील दलित, उपेक्षित युवकों में अभिव्यक्ति हेतु छटपटाहट शुरू हुई। परिणामतः, सम्बन्धित भाषा में दलित साहित्य आन्दोलन की शुरुआत हुई''[14] ऐतिहासिक रूप से वे उन तमाम बिंदुओं की शोधपरक विवेचना करते हैं। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्यिक अनुवादों ने एक बड़े पाठक वर्ग को प्रभावित किया। उन्हीं में से अगली पीढ़ी के लेखक रचनाकार तैयार होते हैं। एक परिवर्तनकामी विचार का विस्तार होता है।

## सन्दर्भ


1. तिवारी, बजरंग बिहारी. भारतीय दलित साहित्य आन्दोलन और चिंतन. दिल्लीः शब्दारंभ प्रकाशन, 2015. पृष्ठ 24
2. एल. जी. मेश्राम 'विमलकीर्ति', सं. महात्मा ज्योतिबा फुले रचनावली खंड 1. नई दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन, 2009. पृष्ठ 04
3. लिम्बाले, शरणकुमार. दलित ब्राह्मण. अनु. निशिकांत ठकार. नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन, 2004. पृष्ठ 14
4. तिवारी, बजरंग बिहारी. भारतीय दलित साहित्य आन्दोलन और चिंतन. दिल्लीः शब्दारंभ प्रकाशन, 2015. भूमिका
5. वही, पृ. 89
6. गुप्ता रमणिका, पंजाबी साहित्य में दलित कदम, रमणिका फाउंडेशन, नई दिल्ली, पृ. 297
7. तिवारी,बजरंग बिहारी. सं. बांग्ला दलित साहित्य सम्यक अनुशीलन. दिल्लीः नयी किताब, 2016. पृष्ठ 11
8. The Dalit-Bandaya movement, a progressive literary movement, emerged during the post-emergency years to challenge the then literary establishment dominated by the naviayas (modernists).

9. The Dalit Panthers are an Ambedkarite social organisation that seeks to combat caste discrimination. The organisation was founded by Namdeo Dhasal, Arjun Dangle, Raja Dhale and J. V. Pawar on 29 May 1972 in the Indian state of Maharashtra. The movement's heyday lasted from the 1970s through the 1980s, and it was later joined by many Dalit-Buddhist activists.
10. पहला मराठी दलित साहित्य संघ जिसकी स्थपना 1950 के लगभग हुई।
11. पहला दलित सम्मलेन जो दलित साहित्य संघ द्वारा सन 1958, मुम्बई में आयोजित किया गया था।
12. On October 14, 1956, Dr. Babasaheb Ambedkar converted to Buddhism. At the same time, he changed the name of 'Janata' newspaper to Prabuddha Bharat.
13. रणसुभे, डॉ. सूर्यनारायण. अनुवाद का समाजशास्त्र. गाजियाबादः अमित प्रकाशन, 2009. पृष्ठ 49
14. रणसुभे, डॉ. सूर्यनारायण. अनुवाद का समाजशास्त्र. गाजियाबादः अमित प्रकाशन, 2009. पृष्ठ 49

**निरंजन राव**
पीएच. डी शोधार्थी
भारतीय भाषा केन्द्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

# अन्तर्विरोध के पुंज भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

—डा. मेवालाल यादव

हिन्दी भाषा और साहित्य में आधुनिकता एवं नवीनता का आगमन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ हुआ जिस का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—''उन का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार से गद्य की भाषा को परिमार्जित कर के उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नये मार्ग पर ला कर खड़ा कर दिया। उन के भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने गये।''[1] भारतेन्दु ने केवल भाषा और साहित्य का ही संस्कार नहीं किया अपितु जनमानस की वृत्तियों का भी संस्कार कर उन के अन्दर नवीन एवं वैज्ञानिक चेतना जागृत करने का प्रयास किया। समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया। अशिक्षा, छुआछूत, जाति-पाति, स्त्री शिक्षा, बाल विवाह और भेद-भाव आदि अनेक सामाजिक विसंगतियों को दूर करने हेतु संस्था स्तर पर व्यापक उपक्रम किया। बालिका शिक्षा के प्रोत्साहन हेतु जहाँ एक ओर 'बाला बोधिनी' नामक पत्रिका का सम्पादन एवं प्रकाशन किया, वहीं दूसरी ओर 'तदीय समाज' जैसे संस्था का गठन कर संगठनात्मक व्यवस्था के माध्यम से जनमानस को जागृत करने का प्रयास किया। भारतेन्दु जी का सम्पूर्ण साहित्य एवं सामाजिक कार्य भारतीय नवजागरण का अंग है जिस को हिन्दी भाषी क्षेत्र का नवजागरण कहा जाता है। तभी तो प्रख्यात आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने भारतेन्दु युग को नवजागरण का द्वितीय चरण स्वीकार करते हुए लिखा है—''सन् 1857 ई. का स्वतंत्रता संग्राम हिन्दी प्रदेश के नवजागरण की पहली मंजिल है। दूसरी मंजिल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग है।''[2] हिन्दी प्रदेश के नवजागरण के अग्रदूत कहे जाने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व एक युग स्रष्टा एवं युग नियंता के रूप में हमारे सामने आता है, इस में कोई संदेह नहीं है। किन्तु, उन के व्यक्तित्व की सम्पूर्णता में निहित अन्तर्विरोध निश्चित स्वरूप के रेखांकन में बाधक है जो हिन्दी अध्येताओं को सोचने के लिए विवश करता हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व की छाप उन की रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उन के अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के निर्माण में तात्कालिक परिस्थितियों की या किसी अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व की अथवा पुरातन का मोह एवं आधुनातन को ग्रहण करने की लालसा या दोनों का मिश्रण जिस की भी भूमिका रही हो, अध्येताओं के लिए यह एक विचारणीय प्रश्न है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा किये गये भाषा संस्कार को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है–''भाषा का निखरा हुआ सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पद्य की भाषा का भी बहुत संस्कार किया। पुराने पड़े हुए शब्दों को हटा कर काव्य भाषा में भी बहुत कुछ चलतापन और सफाई लाये।''[3] ब्रजभाषा का परिष्कार एवं खड़ीबोली को गद्य की भाषा बनाने का प्रयत्न निस्संदेह सराहनीय कदम कहा जाना चाहिए, किन्तु उन्होंने जिस खड़ीबोली को परिष्कृत कर उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया, उसी खड़ीबोली में कविता करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। डा. बच्चन सिंह ने लिखा है–''सन् 1881 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी खड़ीबोली की कविताएं 'भारत मित्र' में प्रकाशनार्थ भेजी थीं। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका (1874) में पयार छन्द में लिखी गयी उन की एक कविता 'मन्द मन्द आवे देखो प्रात समीरन' छपी थी। 'हिन्दी भाषा' निबन्ध का एक उपशीर्षक है–'नई भाषा की कविता'। उसी में उन्होंने अपना बनाया एक दोहा उद्धृत किया है :

*भजन करो श्रीकृष्ण का मिलकर के सब लोग।*
*सिद्ध होयगा काम और छूटेगा सब रोग॥*

इसी पर उन्हीं की टिप्पणी है–''अब देखिए कैसी भौड़ी कविता है।'' आगे चलकर उसी निबन्ध में वे लिखते हैं –''जो हो, मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊं पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं।''[4] स्पष्ट है कि खड़ीबोली की कविता में उन का मन नहीं रमा और न वह ठीक ठाक बन ही सकी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे विलक्षण प्रतिभा के धनी साहित्यकार के लिए खड़ीबोली में कविता करना मुझे बहुत कठिन साधना नहीं जान पड़ती। भाषा का संस्कार और समाज में नवीन चेतना उत्पन्न करने वाले युग निर्माता साहित्यकार के लिए यह कोई मुश्किल कार्य नहीं जान पड़ता। उन के द्वारा खड़ीबोली में रचित 'दशरथ विलाप' नामक कृति की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

*''मेरे जीवन मेरे सरबस प्रान।*
*हुए क्या हाय,मेरे राम भगवान।*
*कहाँ हो राम, हा प्रानों के प्यारे।*
*यह कह दशरथ जी सुरपुर को सिधारे॥*

इतना ही नहीं, भारतेन्दु की मुकरियाँ और उर्दू की कविताएं खड़ीबोली में ही हैं। 'अन्धेर नगरी' के चूरनवाले और पाचक वाले खड़ी बोली पद्य में ही गुहार लगाते हैं।''[5] खड़ी बोली में कविता करने की समर्थ एवं सम्भावना होने पर भी काव्य सर्जना की ओर प्रशस्त न होना ब्रजभाषा कविता के लालित्य सौन्दर्य के प्रति उन के मोह को दर्शाता है जिस से वे अपने को अलग करने में असमर्थ मानते हैं। रीतिकालीन हिन्दी कविता से अलग होने की छटपटाहट तो भरतेन्दु में दिखाई देती है जिस के अन्तर्गत पुराने शब्दों को हटा कर नये शब्दों को ला कर काव्य की भाषा का भी संस्कार करते हैं और साहित्य को जनमानस के समीप लाते है, किन्तु ब्रजभाषा से पूर्णतः मुक्त होने की प्रबल आकांक्षा उन में नहीं दिखती है। पुरातन का मोह एवं आधुनातन का आग्रह उन के अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व का परिचायक है। एक तरफ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र 'है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय' द्वारा 'उर्दू का स्यापा' लिख कर उर्दू जैसी मधुर जबान की हंसी उड़ाते हैं, वहीं दूसरी ओर स्वयं 'रसा' उपनाम से उर्दू में कविता लिखते हैं :

*रसा' महवे फसाहत दोस्त क्या दुश्मन भी हैं सारे।*
*जमाने में तेरे तर्जे सुखन की यादगारी है।*[6]

इस से तो यही विदित होता है कि भारतेन्दु जी चरमोत्कर्ष पर पहुंची उर्दू कविता के आकर्षण से अपने आप को बचा नहीं पाये। अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय उर्दू में कविता कर के दिया। उन के इस कर्म को हिन्दी भाषा और साहित्य का चहुमुंखी विकास की आकांक्षा कह सकते हैं या उन के अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व की परिणति। उर्दू पर व्यंग्य वाणों की वर्षा करने वाले भारतेन्दु यदि उर्दू की ओर आकर्षित होते हैं तो निश्चय ही उन के अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व का एक अंग बन जाता है। केवल भाषा चयन में ही नहीं अपितु भावाभिव्यक्ति में भी कवि का अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व उभर कर सामने आता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविताओं में राष्ट्रप्रेम का भाव प्रधान है, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–''नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सब से ऊंचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आयी हुई कविताएं भी उन्होंने लिखी जिस में कहीं देश दशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही, बहुत सी स्वतंत्र कविताएं भी उन्होंने लिखी जिन में कहीं देश के अतीत गौरवगाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जागी हुई चिन्ता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है। तत्कालीन देश दशा को देख कर उन की वेदना झलक उठती है :

*हाय! वहै भारत भुव भारी। सब ही विधि सों भई दुखारी॥*

*हाय! पंचनद, हा पानीपत! अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत ॥*
*हाय! चित्तौड़! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहि मँझारी ॥*
*बोरहु किन झट यमुना-कासी। धोवहु यह कलंक की राशि ॥''*[7]
*और आगे, ''अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।।''*[8]

यहाँ वे अंग्रेजी राज का गुणगान करने से नहीं चुकते। उन के द्वारा रचित 'भारतभिक्षा', 'विजयवल्लरी' और 'रिपनाष्टक' कविताएं अंग्रजों की प्रशस्ति गान के रूप में रखी जा सकती हैं। राष्ट्रभक्ति और राजभक्ति का मिश्रित राष्ट्रीयता का स्वर भारतेन्दु युगीन कविता की प्रधान प्रवृत्ति है जो भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों के अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व की परिचायक है। इस काल के साहित्यकारों की कविताओं में पायी जाने वाली राजभक्ति को इस्लामिक राज्य में लगने वाले जजिया आदि करों से मुक्ति एवं अंग्रेजी राज्य द्वारा किये जाने वाले सुधारात्मक प्रयास के सापेक्ष जनमानस को लाभ उठाने का आग्रह के रूप में देखते हैं। डा. रामविलास शर्मा ने लिखा है–''भारतेन्दु का साहित्य व्यापक स्तर से गदर से प्रभावित है। इस का पहला प्रमाण यह है कि इस साहित्य में किसानों को लक्ष्य कर के, उन्हें संगठित और आन्दोलित करने की दृष्टि से जितना गद्य-पद्य लिखा गया, उतना दूसरी भाषाओं में नहीं लिखा गया। दूसरा प्रमाण यह है कि इस साहित्य का माध्यम संस्कृत-गर्भित भाषा नहीं है, जैसा कि बंगला साहित्य में है, वरन् वह शहरी बोलचाल की भाषा है, और जनपदीय उपभाषाओं से अपना नाता जोड़े हुए है।''[9] भाषा और विषय के आधार पर तो गदर का प्रभाव पूर्णरूपेण दिखाई पड़ता है किन्तु भाव के आधार पर एक धारा पृथक दिखाई पड़ती है जो राजभक्ति को अपने अन्दर समाहित किये हुए अंग्रेजीराज की वकालत करती है। यही पृथक धारा ही इस काल के साहित्यकारों के अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व हो प्रकट कर रही है।

भारतेन्दु जी के अन्तर्विराधी व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक स्त्री शिक्षा के प्रश्न पर उभर कर सामने आती है। सन् 1882 ई. में औपनिवेशिक सरकार ने शिक्षा संबंधी समस्याओं का पता लगाने हेतु डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग बनाया और उसे लागू करने की चाहत में सार्वजानिक जीवन और शिक्षा के क्षेत्र में सुधार के लिए लगे जिन प्रभावशाली व्यक्तियों से शिक्षा के नियन्त्रण, संचालन एवं स्त्री-शिक्षा के प्रश्न पर सवाल एवं सलाह ली गयी, उस में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रमुख थे। उन के जबाव को जान कर आप को हैरानी होगी। आप सोचेंगे कि स्त्री शिक्षा एवं समानता का इतना बड़ा पैरोकार कितना अन्तर्विरोध से ग्रसित है। भारतेन्दु जी ने जो जबाव दिया था, वह गौर करने लायक है–''मैं इस देश में लड़के-लड़कियों के मिले- जुले स्कूलों की योजना बनाने का समर्थन नहीं कर सकता। इस के अतिरिक्त, उन्होंने दोनों के पाठ्यक्रमों में भी भेदभाव बरतने की कोशिश की। लड़कियों के पाठ्यक्रम में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा लिखी गयी दो पुस्तकें 'विद्यांकुर' जो आधुनिक पदार्थ विज्ञान एवं समाजशास्त्र की थी, दूसरी 'इतिहासतिमिरनाशक' जिस में इतिहास को आधुनिक ढंग से समझाया गया था, को हटवा दिया, जबकि लड़कों के पाठ्यक्रम में इन्हें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। अपने बलिया वाले भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा–'' लड़कियों को भी पढ़ाइए, किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है, उस से उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उन को शिक्षा दीजिए कि वे अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।''[10] इस का यह मतलब कदापि नहीं निकाला जाय कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्त्री शिक्षा के खिलाफ थे, लेकिन उन का अन्तर्विरोध यह था कि एक ओर तो वे सरकार से स्त्री शिक्षा के लिए स्कूल चलाने को कह रहे थे और दूसरी ओर लड़कियों को सिर्फ चरित्र निर्माण, धार्मिक और घरेलू प्रबन्ध की शिक्षा देने का आग्रह करते दिखाई देते हैं। उन की चेतना के विकास से उन का कोई सरोकार नहीं दिखता। इसीलिए कहा जाता है–'भारतेन्दु ने स्त्री की स्थिति पर स्वतंत्र रूप से कहीं कुछ नहीं लिखा और प्रायः जहाँ लिखा भी है वह व्यंग्यात्मक रूप में है और प्रायः स्त्री के विरुद्ध जाता है।'[11]

भारतेन्दु के इसी अन्तर्विरोध पर व्यंग्य करते हुए बाद में उमा नेहरू ने अपने एक लेख में लिखा–''भारतीय पुरुष तो पश्चिम का पूरा अनुकरण करते हैं और उसी आधार पर विकास का अपना मॉडल बनाते हैं लेकिन चाहते हैं कि उन की स्त्रियाँ पूर्वीय ही दिखें।''[12] असल में, उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण में स्त्री प्रश्न को उस उदारता से सम्बोधित नहीं किया गया जिस की आवश्यकता थी। भारतेन्दु और उन के सहयोगी साहित्यकारों में अन्तर्विराध इस सीमा तक दिखाई देते हैं कि इस काल के साहित्य का स्वरूप ही अन्तर्विरोधी हो गया है। यद्यपि, इस के मूल में परिवर्तन की प्रक्रिया मुख्य कारण जान पड़ती है। पुरातन का मोह एवं आधुनिकता का आग्रह के मध्य ही अन्तर्विरोध का जन्म होता है, इसलिए भारतेन्दु युग में अन्तर्विरोध का होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो नवजागरण की कोख

से उत्पन्न हुआ था जिस की स्पष्ट झलक तद्युगीन हंसमुख गद्य में दिखाई पड़ती है। डा. बच्चन सिंह ने लिखा है– ''किस ऐतिहासिक संदर्भ में यह हंसमुख गद्य विकसित हुआ? उस समय के भारतीय नवजागरण की प्रवृत्ति उपनिवेश-विरोधी थी। साम्राज्यवाद की बखिया उधेड़ने में हंसमुखता औजार का काम करती थी। देशी बोली के मिश्रण से भाषा में सजीवता ही नहीं आयी बल्कि अंग्रेजियत के विरूद्ध एक मुहिम भी चल निकली। भारतीय परम्परा का पल्ला कस कर पकड़ने के कारण उन में अनेक अन्तर्विरोध भी समाविष्ट हो गये। भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मंडल के अन्य लेखकों–बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र आदि में भी अन्तर्विरोध परिलक्षित होते हैं।''[13] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उन के सहयोगियों के अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के कारण न तो काव्य भाषा का स्पष्ट स्वरूप निर्धारित हो पाया और न ही खड़ीबोली काव्य की भाषा बन सकी थी। इतना ही नहीं, इस समय के हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का अंश पूर्णतः गायब है, जबकि स्त्री और दलित चेतना को ले कर महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले जैसे समाज सुधारकों ने आन्दोलन शुरू कर दिया था। जिस खड़ीबोली के स्वरूप का निर्धारण एवं काव्य क्षेत्र में उस का प्रवेश पूर्णरूपेण द्विवेदी युग में सम्भव हो सका, यह कार्य भारतेन्दु युग में हो जाना चाहिए था।

नवजागरण की छाया में विकसित भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व पर प्राच्य और पाश्चात्य के वैचारिक द्वन्द का प्रभाव दिखाई देता है जो हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में किस सीमा तक सहायक सिद्ध हुआ, यह तो वर्तमान की प्रगति के सापेक्ष ही मूल्यांकित किया जा सकता है। निस्संदेह, अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व के द्वारा हिन्दी में वैचारिकता नवीनता का आगमन हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए डा. बच्चन सिंह ने लिखा है–''यदि अमीचन्द ने अंग्रेजी उपनिवेशवाद को स्थापित करने में सहायता पहुंचायी थी तो भारतेन्दु ने उस उपनिवेशवाद के विरुद्ध वैचारिक जमीन तैयार की। वे अपनी छोटी सी जिन्दगी में अमीचन्द के कुकृत्यों का प्रायश्चित करते रहे। यदि एक ओर उन में आभिजात्य का संस्कार था तो दूसरी ओर उसे फेंक कर जनता के साथ एकीकृत होने की क्षमता। अन्तर्विरोध उन में है–एक तरह से वे अन्तर्विरोध के पुंज हैं। वे विशिष्ट भी थे और सामान्य भी, राजभक्त भी थे, देश भक्त भी, सनातनी वैष्णव भी, आडंबर विरोधी और कर्मकाण्ड समर्थक भी, ईश्वरवादी और निरीश्वरवादी भी, परंपरावादी भी थे, आधुनिक भी, कविता में खड़ी बोली के समर्थक थे और गद्य में खड़ी बोली के प्रयोग के, हिन्दूवादी भी थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक भी। गृहस्थ भी थे, अगृहस्थ भी। इस प्रकार के अन्तर्विरोध उन के अपने युग के थे। अन्तर्विरोधों का होना स्वभाविक था, उन का न होना ही विस्मयकारी होता।''[14] तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के परिणाम स्वरूप निर्मित अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में निस्संदेह सहायक रहा, किन्तु समग्र भारतीय जनमानस की संवेदनाओं का संवाहक नहीं बन सका। ऐसा मेरा विश्वास है।

## संदर्भ


1. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, संस्करण, 2011, पृ. 323
2. शर्मा, रामविलास, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रा.लि. 1-बी, नेताजी सुभाषचन्द्र मार्ग, नई दिल्ली -110002, द्वितीय संस्करण, 1989, पृ. 12
3. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, संस्करण, 2011, पृ. 323
4. सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002, पाँचवी आवृत्ति, 2015, पृ. 309
5. वही, पृ. 3.9
6. वही, पृ. 3.9
7. शुक्ल, रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3ए अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, संस्करण, 2011, पृ. 416
8. वही, पृ. 417
9. शर्मा, रामविलास, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रा.लि.,1-बी, नेताजी सुभाषचन्द्र मार्ग, नई दिल्ली- 110 002, द्वितीय संस्करण, 1989, पृ.12
10. यादव, डॉ. वीरेन्द्र सिंह (संपा.), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य में परिवर्तित भाव बोध : स्थापनाएं और प्रस्थापनाएं, ओमेगा पब्लिकेशन्स, 4378/4 बी, जी-4 जे. एम. डी. हाउस, गली मुरारीलाल, अंसारी राड, दरियागंज, नई दिल्ली -11002, प्रथम संस्करण, 2011, पृ. 200-01
11. वही, पृ. 201
12. वही, पृ. 201
13. सिंह, डॉ. बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पाँचवी आवृत्ति, 2015, पृ. 294
14. सिंह, बच्चन, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002, पाँचवी आवृत्ति, 2015, पृ. 394



**डा. मेवालाल यादव**

सहायक प्राध्यापक

हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, सांगीपुर, प्रतापगढ़

# 'धार' उपन्यास में जल, जंगल और जमीन के मुद्दे

*–त्रिनेत्र तिवारी*

संजीव द्वारा लिखित 'धार' पारिस्थितिकी विनाश के खतरों के प्रति आगाह करता हुआ एवं जल-जंगल-जमीन के संघर्षों को उजागर करता हुआ एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में संथाल परगना में कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों का चित्रण हुआ है। उपन्यास के केन्द्र में संथाल परगना कक बॉसगड़ा के अंचल आदिवासी हैं। ये आदिवासी मजदूर पेट की आग के कारण कोयले की खदानों में काम करने जाते हैं। कभी जहरीली वायु फैलने के कारण, कभी धरती के धसने के कारण तो कभी पानी भरने के कारण, उन्हीं खदानों में समा जाते हैं। इस के आलावा प्रस्तुत इस उपन्यास में पूंजीवादी व्यवस्था, बिचौलियों की कुटिलताएं, अवैध खनन, माफिया गिरोह का आतंक, श्रमजीवियों का शोषण, आदिवासियों के जीवन आदि का भी चित्रण हुआ है।

पारिस्थितिकी संकट मुख्यतः जैव विविधता का संकट है जो सामाजिक संकट के रूप में दृश्यमान है। औद्योगीकरण की जरूरतों को पूरा करने के लिए नयी-नयी कृषि योजनाएं एवं नये उद्योगों के आरम्भ के लिए जमीनों, जंगलों एवं जल स्रोतों को तहस-नहस करने से पारिस्थितिकीय जैव विवधता पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। अधिकांश जैव विविधता तो नष्ट ही हो गयी है। इसी वजह से प्राकृतिक सन्तुलन को काफी नुकसान हुआ है। अनावृष्टि, सूखा और बढ़ते तापमान जैसे जलवायु में आये परिवर्तन पर्यावरण के नाश और पेट्रोल, कोयला आदि के अत्याधिक सघन दोहन की उपज है। दूसरी ओर बड़ी-बड़ी तथाकथित विकास योजनाओं से विस्थापित होने वाले समाज के सब से निचले स्तर की जनता की आवासीय व्यवस्था, नौकरी, भूख आदि हैं। इस ओर प्रायः हमारा राज और समाज ध्यान नहीं देता है। इस प्रकार के पर्यावरणीय अन्याय के संकट को सुलझाने के लिए व्यक्तिगत, संगठित और सरकारी प्रयत्न राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी बड़े पैमाने पर चल रहे हैं। उदाहरण के लिए शर्मा कहते हैं–''मैं गाँव गाँव यही सारी बातें सभी से कहता हूं कि तुम भोले हो, अपने आदिम संस्कारों से जकड़े हुए हो। सभ्यता के फैलाव से डर कर कोने में सिकुड़ने जाने से क्या होगा? तुम्हें समय के बदलाव को समझते हुए, कुछ जड़-संस्कार छोड़ने होंगे और अपना छिना हुआ हक वापस लेना होगा।''[1] अल्पकालिक सुख के लिए आयोजित ज्यादातर योजनाएं आगामी पीढ़ी के सर्वनाश की वजह बनने की सम्भावनाएं हैं।

तथाकथित विकास के नाम पर वायु और पानी का प्रदूषण आज एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया बन गया है। संजीव के उपन्यास 'धार' और 'सावधान नीचे आग है' इस के ज्वलन्त उदाहरण हैं। 'धार' बाँसगड़ा गाँव में हरी भरी जमीन में तेजाब का कारखाना खुलता है। इस के नतीजतन वहाँ के खेतवाई, कुआँ-पोखरा सब खराब हो जाते हैं। फसल सूख जाती है और पीने का पानी नहीं है। लोग खाँसी, उबकाई जैसे रोगों से पीड़ित हो गये। खेत-खलिहान, पेड़-पौधे, कुएं, तालाब यहाँ तक कि मनुष्य भी जल रहे हैं। तेजाब की फैक्टरी से निकलने वाली जहरीली हवा लग जाने के कारण जंगल मुरझा गया था। पहले जंगलों में सियारों, चूहों, खरगोशों और साँपों का बसेरा था, लेकिन अब जानवरों के स्थान पर मजदूर और उन के बच्चे हैं। संजीव ने लिखा है–''हवा गाँव की ओर घूमती है तो अपनी रही सही जान लिये बांसगड़ा खाँसता है...न, बाँसगड़ा नहीं, उन की उंगली फैक्टरी की ओर उठ रही थी, वह उजली-उजली फफूंदी की झुर्रियों में लरजती तेजाब की फैक्टरी खाँसती है, अपनी धीमी बत्तियों की बुझी आँखों की चिलम में गाँव को भर कर पीती और सों-सों की खुश्क आवाज के साथ उजला-उजला जहर उगलती हुई फैक्टरी।"[2]

उपेक्षा, भूख और गरीबी में लिपटी आरण्यमुखी आदिवासी अस्मिता में खलल तब नहीं पड़ता जब भूख उन्हें परेशान करती है। अभाव उन्हें तोड़ता है, मौसम की मार से उन का जीना हराम हो जाता है। इन सब के तो वे अभ्यस्त रहे हैं। खलल तब पड़ता है जब विकास के नाम पर कोई उन के गहरे शान्त जीवन को गंदला करने चला आता है। भरसक वे कंगाल हों लेकिन उन के नीचे खनिज और वन सम्पदा के कुबेर के खजाने हैं। उन के जीवन यौवन और खजाने पर लार टपकाते दिकुओं से ले कर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और उन के दलालों तक की नजर है और वे उजाड़ होने और लुटने को अभिशप्त हैं। पहले बिहार का हिस्सा रहा और अब झारखंड का ऐसा ही एक क्षेत्र है संताल परगना। संजीव ने इस उपन्यास के माध्यम से इस आदिवासी अंचल के खनन-दोहन और उस के प्रतिरोध में उठती आदिवासी चेतना की सरकारी और निजी योजनाओं के विरुद्ध 'जनखदान' जैसे वैकल्पिक मॉडलों की तलाश तब शुरू की थी जब इस विषवृक्ष का अंकुर मात्र फूटा था जो आज पूरे देश के आदिवासी अस्तित्व के लिए विकराल दानव का रूप धारण कर चुका है। विकास के नाम पर विनाश और उद्भव के नाम पर पराभव करने के विरुद्ध एक सक्षम प्रतिरोध है ये उपन्यास 'धार'। 'धार' आदमी की भोथरी होती हुई धार का संधान है। धार की अतिरिक्त विशिष्टता है। उपन्यास की नायिका मैना जो प्रेमचन्द के गोदान की धनिया और एमिल जोला के जर्मिनल की माहेदी की दुर्धर्ष नायिकाओं की परम्परा की अगली और अधुनातन कड़ी है। बाहरी और अन्दरूनी पचासों झंझावतों से जूझती, दलाल बनते जा रहे पिता, पति, पुत्री, परिजन और पतनशील परम्पराओं से जूझती मैना हिन्दी का अविस्मरणीय चरित्र है। आज जहाँ एक ओर भारत का शहरी मध्यम वर्ग आर्थिक विकास के पथ पर तेज गति से आगे बढ़ता जा रहा है, वहीं दूसरी ओर इस आर्थिक विकास की कीमत उन लोगों को चुकानी पड़ती है जो अपने जीवन यापन के लिए आज भी जंगलों पर निर्भर हैं। जो लोग पारिस्थितिकी विनाश के लिए सब से कम जिम्मेदार हैं उन्हें इस पारिस्थितिकी संकट का सामना सब से ज्यादा करना पड़ता है। ये लोग आदिवासी लोग हैं जिन पर पारिस्थितिकी संकट का सब से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आदिवासी जनजीवन के संदर्भ में डॉ. गोरखनाथ तिवारी ने लिखा है–"संपूर्ण मनुष्य का एक विभाग उन लोगों का भी है जो सभ्यता की दौड़ में बहुत पीछे छूट गए हैं। उन्हें आदिवासी कहा जाता है।"[3]

वर्तमान समय में आदिवासी समाज की स्थिति पहले से खराब होती जा रही है। उन से वह सब कुछ छिनता जा रहा है जिन पर उन का हक है। संजीव के 'धार' उपन्यास में इस का सजीव चित्रण दिखाई देता है जिस में संथाल आदिवासी गरीबी तथा बेगारी में उपेक्षा का जीवन बिताने को मजबूर हैं। उपन्यास में उद्योगपति महेन्द्र बाबू आदिवासी इलाके में तेजाब का कारखाना शुरू करते हैं जिस के पानी से कुएं और तालाब सब दूषित हो जाते हैं। अतः आदिवासियों को नई समस्याओं से जूझना पड़ता है। उपन्यास की मैना अपने समाज की हालत को बयाँ करती हुई कहती है– "खेत-खतार', पेड़, रुख, कुआं, तालाब, हम और हमारा बाल-बच्चा तक आज तेजाब में गल रहा है, भूख में जल रहा है।। पहले हम चोरी का चीज है नहीं जानता था, भीख कब्भी नहीं माँगा..... इज्जत कब्भी नई बेचा, आज हम सब करता"[4] आज आदिवासी समुदाय का हर वर्ग लगभग हर स्तर पर बहुआयामी शोषण का शिकार है। ऐसा भी नहीं है कि आदिवासी इस शोषण के प्रति सदा मौन ही रहते हैं। संजीव के 'धार' उपन्यास में यही स्थिति अंकित है। अविनाश शर्मा तथा मैना खदान में आदिवासियों के साथ काम करते हैं। खदान से कोयला निकालने में भी शोषण का सिलसिला दिखाई देता है। आदिवासी साथियों से अविनाश शर्मा अपनी संगठन शक्ति का एहसास दिलातें हैं–"तो साथियों, यह धार ही हमारी शक्ति है और धार का

भोथरा होना ही मौत। यहाँ ही नहीं, जहाँ-जहाँ भी साम्यवादी सरकारें हैं, यह उपमा लागू होती है। जनखदान आप का शिशु है, सपना है, सफलता है। हलांकि है एक छोटी उपलब्धि मात्र। धार बरकरार रही तो संसार ही आपका है।''[5]

उपन्यास की मुख्य पात्र मैना मर्दवादी व्यवस्था को तोड़ती आदिवासी नारी है। मैना इकोफेमिनिज्म की एक मजबूत प्रतीक है। उस में स्त्री दया, ममता और प्रकृति प्रेम आदि गुण हैं तो दूसरी ओर उस में अन्यायी, अत्याचारी, समाज-व्यवस्था और भोगप्रदान पुरुषवादी व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विद्रोह कूट-कूट कर भरा हुआ है। मैना की अपनी एक जीवन शैली है और अपनी नैतिकता है। वह अपने समाज और बिरादरी वालों की परवाह न करते हुए बिना शादी के मंगर के साथ रहती है। जब वह पैसे के लालच में खलासी के साथ व्यभिचार करती रमिया को पकड़ कर उस के बाप के पास ले जाती है तब गाँव वाले उसे ही भला बुरा कहते हैं और मैना का विरोध करने लगते हैं। तब वह निडरता से कहती है–"मैना का जब मन चाहा मरद किया, मन से उतर गया छोड़ दिया, मरजी से किया मजबूरी से नहीं। असल बाप का बेटी हो तो पएले मैना बन के दिखाना, तब बात करना।"[6] इस कथन से उस के स्वाभिमानी स्त्रीवादी व्यक्तित्व का परिचय होता है।

संथालो की इस बाँसगाड़ा बस्ती में सभी ओर दरिद्रता, भुखमरी और बेकारी है जिस से बेहाल हो कर लोग चोरी से रात में कोयला काट कर उसे बेच कर अपनी आजीविका चलाते हैं। इन में से अधिकतर लोग यहाँ के मिल मालिक, पूंजीपतियों के गुलाम हैं। उन के पास खुद के बारे के सोचने के लिए समय ही नहीं है। सभी को यहाँ की अर्थ और समाज व्यवस्था ने लूला-लंगड़ा और कमजोर बनाया है। अगर कोई सचेत हो कर इस क्रूर व्यवस्था से संघर्ष करने की क्षमता और साहस रखता है, तो वह मैना ही है। हैदर मामा उस के बारे में कहता है–"ई लंगड़ा-लूला बीमार इंसानों के बीच एक तू ही तो साबुत है।"[7]

मैना अपने समाज से अत्यधिक प्रेम करती है, इसलिए वह अविनाश शर्मा के जनमोर्चा से मिल कर सब को रोजगार मिले ऐसी जनखदान का निर्माण करती है। उस के इस कार्य से उस के प्रगतिवादी चरित्र का परिचय मिलता है। वह कहती है–"हम को याद आता, जब हम बच्चा था। खेती से चार-छै महीना का काम चल जाता। आज एक दिन का भी नई। खेत-खतार, पेड़, रूख, कुआँ, तलाब, हम और हमरा बाल-बच्चा तक आज तेजाब में गल रआ है। ....शरमा बाबू चाअता था कि हम को इज्जत मिले, आदमी की तरह रए- इस का खातिर कहाँ-कहाँ दरखास नई दिया, मगर कोई सुनवाई नई। सब मर गया। हाकिम-सरकार, भगवान-सब। आज ई ठो सोचने का बात है कि हम ऐसे-ई रएगा। पानी का पाइप हमरा छाती पर से गुजरता। हम को एक बूंद पानी नई, रेल्लाइन बगले में है, मगर हमरा खातिर सौ कोस दूर, वोट देने को हम को आज तक कोई बोला नई, हमरा चिट्ठी-पत्री निहाल सिंह के दुकान के पते पर आता। हमरा कोई पता- ठिकाना नई।''[8] अपने पुराने दिनों को आज से जोड़ कर झुंझलाते हुए मैना कहती है–"कोइला का खजाना पे हम रहता है, फिर भी कंगाल? कब तक अइसा माफिक चलेगा?''[9]

संजीव ने मैना के माध्यम से समाज के स्त्री वर्ग को प्रतिकूल व्यवस्था को परिवर्तित करने की प्रबल प्रेरणा देने का अमूल्य कार्य किया है। मैना हमारे तथाकथित पढ़े लिखे समाज की तुलना में एक साधारण अनपढ़ आदिवासी स्त्री है जो अपनी सोच और विचारों से पुरुषवादी समाज व्यवस्था से पर्यावरणीय संघर्ष कर असामान्य बन जाती है।

## संदर्भ


1. धार, संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 2018, पृ. 34
2. वही, पृ. 36
3. आदिवासी साहित्य विविध आयाम, संपादक, डॉ. रमेश सम्भाजी कुरे, पृ. 210
4. धार, संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण, 2018, पृ. 130
5. वही, पृ. 157
6. वही, पृ. 64
7. वही, पृ. 63
8. वही, पृ. 54
9. वही, पृ. 54



**त्रिनेत्र तिवारी**
शोध छात्र, दिल्ली विश्वविद्यालय

# *जयनंदन की कहानियों में बाल मनोविज्ञान*

*–सरिता कुमारी*

मुंशी प्रेमचंद ने लिखा है–''प्राचीन कलाओं में लेखक बिल्कुल नेपथ्य में छिपा रहता था। हम उस के विषय में उतना ही जानते थे, जितना वह अपने को अपने पात्रों के मुख से व्यक्त करता था। जीवन पर उस के क्या विचार हैं, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उस के मनोभावों में क्या परिवर्तन होते हैं, इस का हमें कुछ पता न चलता था। लेकिन आजकल उपन्यासों में हमें लेखक के दृष्टिकोण का भी स्थल-स्थल पर परिचय मिलता रहता है। हम उस के मनोगत विचारों और भावों द्वारा उस का रूप देखते रहते हैं, और ये भाव जितने व्यापक और गहरे और अनुभव-पूर्ण होते हैं, उतनी ही लेखक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है। यों कहना चाहिए कि वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएं और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाए जाते हैं। उन का स्थान बिलकुल गौण है।''[1] जयनंदन की कहानियाँ मनोविज्ञान से ओत-प्रोत हैं जिन से मानव के स्वभाव का ज्ञान होता है। उन की कहानियों से स्पष्ट होता है कि मन के अनुशीलन का आधार स्वभाव के अनुशीलन पर ही आधारित होता है। इस से इन की कहानियों में प्रतिपादित चरित्रों के व्यक्तित्व का पता चलता है। मनोविज्ञान की ही एक शाखा है बाल मनोविज्ञान। बाल मनोविज्ञान के अंर्तगत बच्चों के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन करना होता है। जयनंदन हिंदी कथा-साहित्य के एक ऐसे रचनाकार है जिन्होंने समाज के अन्य पक्षों के अलावा अपनी कहानियों में बालमन पर भी विचार किया है। जयनंदन ने बाल मनोविज्ञान को उपदेशपरक बनाने की बजाए, बाल मन की अनुभूतियों को पाठकों के सामने लाने की कोशिश की है। वर्तमान समय में व्याप्त समाज की विसंगतियाँ, एकाकीपन, पारिवारिक असंतोष और टूटते हुए विवाह के बंधन आदि ऐसी समस्या बन चुके हैं जिस के शिकार सब से ज्यादा बच्चे बनते हैं।

मुंशी प्रेमचंद ने लिखा है–''सब से उत्तम कहानी वह होती है, जिस का आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।''[2] प्रेमचंद ने कथा-साहित्य में जिस मनोवैज्ञानिक कहानियों की बुनियाद खड़ी की थी, उसे आधार बना कर अनेक साहित्यकारों ने मनोवैज्ञानिक रचनाएं की जिन में जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी, अमृतराय आदि हैं। इसी परंपरा में जयनंदन भी हैं। इन्होंने 'कायांतरण', 'घर निकाला', 'अप्रकट', 'गाँव का सब से छोटा आदमी' और 'अपदस्थ' शीर्षक कहानियों के माध्यम से बालकों के मानसिक अंतर्द्वन्द और उनके सूझ-बूझ से भरे मनोभावों को दिखलाया है। आज के वर्तमान समय

में जहाँ झूठ, छल और अन्याय का बोलबाला है, वहीं जयनंदन मासूम बच्चों में ईमानदारी, सहनशीलता और प्रेम आदि गुणों से एक नवीन संसार की रचना करना चाहते हैं। उन्होंने बच्चों में अपने उम्र से पहले की समझदारी को दिखलाते हैं तो कहीं समाज में व्याप्त शोषण के विरूद्ध अपने जीवन के हित में फैसला करते हुए दिखलाते हैं। इसी संदर्भ में डॉ. गोपाल प्रसाद लिखते हैं–''जयनंदन के बाल-पात्र अपने निर्दोष भाव से जहाँ रचना को गति प्रदान करते हैं, वहीं समाज को दिशा प्रदान करने में भी अपनी महती भूमिका अदा करते हैं।''[3]

बालकों का मन अपनेपन और सहयोग की भावना से भरा होता है। उन का प्रेम निश्छल होता है। 'कायांतरण' शीर्षक कहानी में जयनंदन ने अपने बाल पात्र 'श्लेष' के माध्यम से इसी भावना को दिखलाया है। श्लेष अपने बीमार पिता की नींद को बचाने के लिए पूरी कोशिश करता है। आधी रात को श्लेष के घर में चोरी करने के इरादे से ऊंची काँचदार चहारदीवारी को पार करने की चेष्टा में चोर के पैर घायल हो जाते हैं जिन से रक्त प्रवाहित होने लगता है। तब वह चोर से रोने और कराहने से मना करता है और चोर को उस के घाव पर मरहम-पट्टी करने के लिए सामान और दर्द न हो उस के लिए दवा ला कर देता है। चोर उस के द्वारा किये गये मरहम पट्टी, दया और सहानुभूति को देख कर उस से पूछता है–''तुम मेरे लिए यह सब कर रहे हो, तुम्हें मालूम है, मैं कौन हूं?''[4] श्लेष निर्द्वन्द्व भाव से कहता है–''हाँ मैं जानता हूं, तुम चोर हो। लेकिन मैं चिल्ला नहीं सकता, चूंकि मेरे बीमार पापा को आठ रोज बाद नींद आयी है। डॉक्टर अंकल ने कहा है कि इन्हें नींद लगे तो किसी भी तरह बीच में टूटने न पाए। तुम चोर हो, मगर तुम्हारे पैर जख्मी हो गये हैं। पापा ने मुझे सिखाया है कि आदमी कोई भी हो, कैसा भी हो, अगर वह तकलीफ में है तो उस की मदद करनी चाहिए।''[5] निश्छल बाल-वृत्ति का असर चोर पर दिखलाते हुए जयनंदन लिखते हैं–''वह आदमी जो चोर था, उसके भीतर का बुरा और सख्त आदमी मानो जरा-सा हिल गया। श्लेष की नेकी, उस का बचपना और उस के भोलेपन ने चोर के इरादे के समक्ष एक चुनौती खड़ी कर दी।''[6] बालकों के सहज मन के संदर्भ में आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है–''वात्सल्य स्नेह और प्रेम का अत्यंत कोमल रूप है और इस की व्याप्ति प्राणी मात्र में पाई जाती है। बालक के निष्कपट, सहज और भोले नैसर्गिक सौंदर्य पर मानव मन का अनुराग स्वतः उमड़ पड़ता है।''[7]

अपनी कहानी 'गाँव का सब से छोटा आदमी' के बाल-पात्र 'जुम्मा' के माध्यम से वे घृणित बाल यौन शोषण को दिखलाते हैं। जन्म लेने के बाद एक बच्चा अपने परिवार और घर को सब से ज्यादा सुरक्षित समझता है। उस के बाद एक बच्चे के लिए सब से सुरक्षित जगह होता है, उस का स्कूल जहाँ शिक्षक अपने ज्ञान के भंडार से उन्हें उत्तम चरित्रवान और सामाजिक बनाते हैं। लेकिन अगर शिक्षक ही भक्षक बन जाए तो हमारे समाज की दशा क्या होगी? जयनंदन ने ऐसे ही उच्च वर्गीय शिक्षकों की मानसिकता को दिखलाते हैं। जुम्मा जो नीची जाति से संबंध रखता है। जब वह शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्कूल जाता है, तब वहाँ उस के साथ शिक्षकों के द्वारा यौन शोषण जैसा जघन्य अपराध किया जाता है। उस की मानसिक अवस्था को बचपन में ही रौंद दिया जाता है। अब उसे स्कूल से भय लगता है। जब उस के पिता स्कूल नहीं जाने का कारण पूछते हैं तो जुम्मा अपने थैले में से एक कपड़ा ला कर सब के सामने रख देता है। लेखक लिखते हैं– ''घर के सभी लोगों की आँखे उस कपड़े को देख कर फटी-की-फटी रह गयीं। वह कपड़ा जुम्मा का पैंट था जिस का पिछला हिस्सा खून से भीगकर रंगा था और सूख कर चिमड़ गया था।...वह शायद इतना समझ रहा था कि उस के साथ बहुत शर्मनाक कुकर्म हुआ है।''[8] जब जुम्मा इस अमानवीय शोषण करने वाले का नाम मास्टर टीका मिसिर बतलाता है तो उस के पिता उसे ले कर टीका मिसिर के घर पहुंचते है। टीका मिसिर उसे बहला फुसला देते हैं और जुम्मा के पिता उस के बहकावे में आ कर उस से अपने बच्चे के भविष्य के लिए गिड़गिड़ाने लगते हैं। जुम्मा अपने पिता के द्वारा किए गए विनय को देख कर हैरान हो जाता है। लेखक उस के मानसिक अवस्था को दिखलाते हुए लिखते हैं–''उस ने सोचा था कि जम कर झगड़ा-तकरार होगी। पर यह क्या, मास्टर ने बहला दिया और यह बहल गया! वह अभी से ही अन्य दो-तीन मास्टरों की गंदी-नुकीली नजरों की बदबू और चुभन महसूस करने लगा था। जब उन्हें टीका मास्टर उस के बाप की ठंडी और बेजान प्रतिक्रिया के बारे में बतायेंगे तो उन के हौसले और बढ़ जायेंगे! अगले दिन जुम्मा उर्फ जमना प्रसाद स्कूल जाने के लिए घर से निकला। मगर शाम को जुम्मा घर वापस नहीं आया।''[9]

आधुनिक जीवन शैली में वैवाहिक संबंधों के मायने बदल चुके हैं। विवाह अब स्त्री-पुरुष के लिए पवित्र बंधन न हो कर मात्र एक दूसरे को वहन करने जैसा हो गया है। विवाह पूर्व या विवाहेतर यौन संबंधों से परिवार की आस्था पर चोट पहुंची है। इन परिस्थितियों से उपजी मानसिक विकृति एवं एकाकीपन के शिकार सब से ज्यादा बच्चे हो

रहे हैं। जयनंदन ने 'अपदस्थ पति' शीर्षक कहानी के माध्यम से ऐसे ही एक आधुनिक परिवार में पल रहे बच्चे की मानसिक स्थिति को दिखलाते हैं जो अपनी माँ के विवाह पूर्व प्रेम संबंध को कायम रखने से पैदा होता है। जन्म लेने के बाद निपुण जिसे अपने पिता के रूप में पाता है और जिस के लाड़-प्यार में बड़ा होता है। उसे एक दिन उस की माँ किसी दूसरे व्यक्ति को पिता कहने के लिए मजबूर करती है। जयनंदन निपुण और आमिष के बीच हो रहे संवादों से एक पाँच वर्षीय बच्चे की मानसिक स्थितियों को व्यक्त करते हैं– ''निपुण को ल`कर आमिष चला गया। घर से निकलते ही निपुण के लवों से अनेक कौतूहल झरने लगे। उस ने पूछा, मम्मी कहती है कि मैं सुमित अंकल को पापा कहूं, क्या आप मेरे पापा नहीं रहेंगे?...क्या सब की मम्मी इस तरह पापा बदल देती हैं?''[10]

दाम्पत्य जीवन में अविश्वास और असंतोष होने के कारण से भी बच्चों की मानसिक स्थिति सामान्य नहीं बन पाती है। वे अपने उम्र से कहीं ज्यादा बड़े हो जाते हैं। जयनंदन अपनी 'अप्रकट' शीर्षक कहानी में ऐसे ही दाम्पत्य जीवन के कलह में पल रहे तीन बच्चों की मानसिक स्थिति को दिखलाते हैं। कहानी में माता-पिता के बीच प्रतिदिन हो रहे बकझक, गाली गलौज, हाथापाई, मारपीट, अबोला और नफरत जैसे माहौल को झेलते हुए तीन बच्चे अपने जीवन को जी रहे हैं। घर के कलह, शोर और तनाव से उबरने के लिए बेटी अपने मन की व्यथा को व्यक्त करते हुए पिता से कहती है–''पापा, पता नहीं मैं होशियार हुई हूं या नहीं लेकिन इतना कह सकती हूं कि घर के झगड़े और तकरार ने बचपन जीने का हमें वह एहसास नहीं दिया, जिस में बेफिक्री होती है, मासूमियत होती है और अल्हड़पन होता है।''[11] इन परिस्थितियों से वह इतनी आतंकित है कि विवाह जैसे बंधन में बंधने से उसे डर लगता है। वह अपने पिता से कहती है–''पापा, मैं आप दोनों के बीच की टकराहट और असहिष्णुता को देख कर डरने लग गयी हूं अपने विवाह से। कहीं मेरा दाम्पत्य भी इसी तरह का हो गया तो? मैं हरगिज नहीं चाहती कि मम्मी का कोई साया मुझ पर पड़े और यह भी नहीं चाहती कि मेरा पति आप की तरह हो।''[12]

आज के वैज्ञानिक दौर में व्यक्ति कितना भी आधुनिक क्यों न हो जाए, परंतु उस के हृदय में व्याप्त अंधविश्वास को निकाल पाना बहुत ही मुश्किल है। समाज में व्याप्त अंधविश्वाश के कई ऐसे अमानवीय कार्यों को परिणाम दिया जाता है जिस की कल्पना करना भी असहनीय है। ऐसे अंधविश्वासों के शिकार बुजुर्ग, युवा ही नहीं बल्कि बच्चे भी बन जाते हैं और वह अपनी मानसिक स्थिति को सामान्य नहीं रख पाते। जयनंदन 'घर-निकाला' शीर्षक कहानी में ऐसे ही एक कुष्ठ रोग जैसी बीमारी पर किए गए अंधविश्वास के शिकार हो रहे अमानवीय कार्यों का पर्दाफाश करते हुए एक बच्चे की मन की स्थिति को दिखलाते हैं। कहानी का बाल पात्र 'अंगद' जो कुष्ठ रोग से ग्रसित है। आज के विज्ञान युग में कुष्ठ रोग के कितने ही इलाज आविष्कार हो चुके हैं। फिर भी हमारे सभ्य कहे जाने वाले समाज के लोगों में इस बीमारी के प्रति घृणा और अंधविश्वास की भावना अब तक व्याप्त है। इस भावना को जयनंदन अंगद के साथ हो रहे व्यवहार से दर्शाते है। अंगद के स्कूल के हेडमास्टर को जब इस बात की खबर मिलती है कि अंगद को कुष्ठ रोग है तो वह अंगद से कहते है–''अंगद कल से तुम स्कूल नहीं आ सकते।''[13] हेडमास्टर को इस बात का भय हो जाता है कि दूसरे अविभावक अपने बच्चों को स्कूल में नहीं भेजेंगे जिस के करण अंगद को स्कूल से निकाल दिया जाता है। अंगद को स्कूल में ही नहीं बल्कि अपने परिवार और घर में भी अछूत की तरह रहना पड़ता है। उस के बड़े भाई के बच्चों को उस से दूर रखा जाता है। यहाँ तक कि उस की दीदी को विवाह के लिए देखने आए कुटुंब की नजरों से भी दूर रखा जाता है। उस के बड़े भाई सुजान की पूरी कोशिश होती है कि अंगद पर किसी की भी नजर न पड़े। उस की माँ उसे दो-ढाई घंटे के लिए कहीं बाहर खेलने के लिए भेज देती है। लेकिन अंगद के बालमन में ढेर सारे प्रश्न उठने लगते हैं। ''वह कहाँ खेलने जाए किस के साथ खेलने जाए। क्या माँ को मालूम नहीं कि उसे अपने साथ कोई नहीं खेलने देता।''[14]

विवाह के पूरे कार्यक्रम में लोगों की नजरों से अंगद को छुपाने के लिए उसे गोहाल में बंद कर के रखा जाता है। जब उस की बड़ी दीदी उससे मिलने के लिए आती है तो वह उसे रोकते हुए कहता है–''मुझे बीमारी हो गयी है दीदी, अब मैं तुम्हारी गोद में नहीं चढ़ सकता।''[15] अंगद की दीदी के विवाह संपन्न होने के बाद उस के बड़े भाई अपने परिवार को ले कर किसी भाड़े के घर में जाने की तैयारी करने लगता है। मां-पिता के दुःखों को देख कर अंगद अपने बड़े भाई से कहता है–''मुझे फिर से गोहाल में बंद कर दो भैया, पर मां-पिताजी को छोड़ कर मत जाओ। मेरे बदले सजा इन्हें मत दो।''[16] जयनंदन एक दस वर्षीय बालक के मानसिक अंतर्द्वन्द को दिखलाते हुए लिखते है–''जब बंद कमरे में अंगद अकेला होता है तो उस का समय मानो ठहर जाता है। एक बेचैनी और खुजलाहट समा जाती है पूरे शरीर में। मानो दवा उसे

जितना फायदा पहुंचा रही है, लोगों का उस के प्रति उपेक्षा-भाव, क्षुद्र दृष्टिकोण और बंद कमरा उस से ज्यादा हानि पहुंचा रहा है।''[17]

जयनंदन ने अपनी कहानियों में बालमन के कई मर्मस्पर्शी पहलुओं से रू-ब-रू करवाते हैं। उन के कोमल मन की झांकी बाल मनोविज्ञान पर आधारित कहानियों को देखने से मिलती है। बाल मनोविज्ञान के आधार पर मानव मन के सूक्ष्मत्तम अंतर्द्वन्द एवं मनोदशाओं का चित्रण जयनंदन की कथा यात्रा में दृष्टिगोचर होता है। बालपन को परख-दर-परख अनावृत्त करते हुए जयनंदन ने मोटेतौर पर मानव जीवन की मानसिक आधार भित्ती को रूपाकृति प्रदान की है। इन की कहानियों में बाल मनोविज्ञान के विविध पक्ष कला एवं मनोविज्ञान के साझा समायोजन के साथ समाज के विभिन्न घटनाक्रमों को उजागर करती है। इन कहानियों में जो मानसिक पक्ष उभर कर सामने आते है, उन से स्पष्ट होता है कि मानव जीवन की आधार भित्ती बाल्यावस्था में ही मूलतः नीहित होती है। इस मानवीय अवस्था के द्वारा ही एक परिपुष्ट सामाजिक इकाई के रूप में मनुष्य परिपुष्ट होता है। इसी के द्वारा वह समाज के वृहद संदर्भ में अपने आप समर्पित करते हुए अपने सामाजिक दाय का निर्वहन करता है। ऐसे में बाल अंतर्मन इन सूक्ष्म रेशों का अध्ययन यहाँ बेहद सारगर्भित बन पड़ा है। सार रूप में यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि जयनंदन ने अपनी कहानियों में बाल मनोविज्ञान के सहज समायोजन द्वारा मानव जीवन के वृहद संदर्भ को रूपांकित किया है।

## संदर्भ


1. प्रेमचंद, कुछ विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 2003, पृ. 42-3
2. वही, पृ. 36
3. प्रसाद डॉ. गोपाल, नाइंसाफियों से मुठभेड़ के कलमकार, बोधि प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण : 2018, पृ. 55
4. जयनंदन, गुहार, रेमाधव पब्लिकेशंस प्रा. लि., गाजियाबाद, प्रथम पेपरबैक संस्करण, 2008, पृ. 114
5. वही
6. वही
7. पाण्डेय, मैनेजर, भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण, 2003, पृ. 233-34
8. जयनंदन, सन्नाटा-भंग, दिशा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993, पृ.180
9. वही, पृ. 185-86
10. जयनंदन, प्रतिनिधि कहानियाँ, जागृति पब्लिकेशन, पटना, प्रथम संस्करण, 2014, पृ.114
11. जयनंदन, घर फूंक तमाशा, ज्ञान भारती, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2004, पृ. 83
12. वही
13. जयनंदन, दाल नहीं गलेगी अब, पुस्तक भवन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005, पृ.118
14. वही, 120
15. वही, 122
16. वही, 124
17. वही, 123



**सरिता कुमारी**
सहायक प्राध्यापिका, बलरामपुर कॉलेज
पुरुलिया, पश्चिम बंगाल

# *कहानी संग्रह– 'मोर का पंख'*

*–डा. पूनम यादव*

समकालीन कहानी संसार में विविधता और विशिष्टता की व्यापक मौजूदगी है। हर कथाकार की अपनी विशिष्ट शैली और यथार्थ को अपने-अपने नजरिए से देखने का प्रयास दिखाई देता है। युवा कथाकारों में टेकचंद की कहानियाँ विशेष रुप से पाठकों का ध्यान आकर्षित कर रही हैं, उन का चर्चित कहानी संग्रह 'मोर का पंख' महज लंबी कहानियों का संग्रह नहीं है, बल्कि यह हमारे लिए महत्वपूर्ण दस्तावेज है। टेकचंद की रचनात्मकता की विशेषता यह है कि वह किसी भी विषयवस्तु अथवा समस्या को ही न देख कर उसे प्रभावित करने वाले विभिन्न पहलुओं को स्थितियों के रूप में नहीं बल्कि क्रियाशील शक्तियों के रूप में ग्रहण करते हैं। 'मोर का पंख' कहानी संग्रह की हर कहानी रचनाकार की इस रचनात्मक विशिष्टता को हमारे सामने रखती है। 'दस नंबरी', 'खस्सी', 'दौड़' हो या 'एटीएम', 'रिवाल्वर बच गया जैसी कहानियों में विशेष रूप से संग्रह की सब से चर्चित और बेहतरीन कहानी 'मोर का पंख' को पढ़ते हुए हमें उन की प्रखर चेतना व सोच का पता चलता है।

टेकचंद की कहानियों में दलित विमर्श, राजनीतिक विमर्श, स्त्री विमर्श तथा अन्य तमाम प्रकार के सामाजिक विमर्श इतने सशक्त और प्रभावशाली रूप में सामने आते हैं कि पाठक बेचैन हो जाता है और रचनाकार का सामाजिक सरोकार भी पूरा हो जाता है। रचनाकार का सामाजिक सरोकार ही उसे सामाजिक समस्याओं की जड़ों पर प्रहार करने का साहस देता है। 'मोर का पंख' कहानी संग्रह की सब से बेहतरीन कहानी है,'मोर का पंख'। यह कहानी मुझे इस रूप में भी एक महत्वपूर्ण कहानी लगी कि विशाल, जू चामो, मांथन, चंद्रभान और बर्फी जैसे चरित्रों के माध्यम से समाज के भीतर होते हुए भी अलग-थलग पड़े, दयनीय जीवन भोग रहे इंसानों की प्रबल चिंता इस में दिखाई देती है। पात्रों के जीवन में आने वाली हर समस्या पाठक को सोचने पर विवश करती है कि आखिर क्यों आजादी के इतने वर्षों बाद भी समाज में इतनी असमानता है, दमन है और भयंकर शोषण है। दरिद्रता ऐसी कि पढ़ते हुए पाठक गंभीर हो जाता है और अनगिनत प्रश्न उस के सामने खड़े हो जाते हैं। 'मोर का पंख' कहानी का प्रमुख पात्र 'विशाल' जब खाने बैठता है तो दादी से कहता है कि दादी !...आलू तो दीख ना रहा? सब्जियों और एल्यूमीनियम के कटोरे में वह आलू ढूंढ रहा था। घर के सब सदस्य अपनी-अपनी पसंद की सब्जियाँ उसी मे खाते पीते।" ऐसी दयनीय दशा में होते हुए भी दादी बर्फी और विशाल के पिता

इस बात को बखूबी समझ चुके थे कि सामाजिक, आर्थिक रूप से अगर सबल होना है तो उस का एकमात्र उपाय है कि लोग अधिक से अधिक पढ़ें। इसीलिए दादी बर्फी से कहती है कि सारे जोर लगावेंगे.... अर अपणे बिसाल नै पढ़ावैंगे.... ।''

दादी बर्फी के एक कथन में लेखक ने अपने पाठकों को भी चेताया है कि मात्र शिक्षा वह जरिया है जिस से वर्तमान दशा को काफी हद तक सुधारा जा सकता है। समाजशास्त्री प्रो. श्यामाचरण दुबे ने भी विकसित देशों और विकासशील देशों के समाजों पर बात करते हुए बहुत ही स्पष्ट रूप से टिप्पणी की हैं, ''यदि शोषण और दमन को पुष्ट करने वाली वर्तमान संरचनाओं को समाप्त नहीं किया गया तो यह परिस्थिति और भी दयनीय होगी।''

परिवार के अथक प्रयास और अपनी योग्यता के सहारे विशाल 'प्रोटोकॉल अधिकारी' नियुक्त हो जाता है। वही विशाल जिसे स्कूल में पढ़ने के दौरान भी असमानता का बोध हो चुका था। ''मास्टर जी सजा में 'कुछ' बच्चों को तो खड़ा कर देते और 'कुछ' को स्कूल की साफ सफाई का काम देते।'' यातना की यह यात्रा विशाल के प्रोटोकॉल अधिकारी जैसे प्रतिष्ठित पद पर आ जाने के बाद भी थमती नहीं है। विशाल अपनी पीड़ा को अपनी दादी से बात करते हुए जाहिर करता है, ''विशाल ने दादी को पूरे जोश के साथ अपने ज्वाईनिंग की बात बतायी। मिन्नी बहन, मम्मी, छोटे भाई जीवन और पिताजी से भी बात की मगर किसी को यह नहीं बताया कि किस ढंग से उस की और उस के कागजों की जाँच हुई और दूसरों को कितनी आसानी से ''कांग्रेचुलेशन जैंटलमैन'' कहते हुए ज्वाइन करवाया गया। यहाँ रचनाकार सामाजिक संरचना की इस कमी को भी उजागर करते हैं कि वर्तमान सभ्यता उन्मुख समाज में भी विशाल जैसे योग्य युवाओं को अपनी शिक्षा, योग्यता के बल पर अच्छी नौकरी में आ जाने के बावजूद भी कैसे अपमानजनक स्थितियों का सामना करना पड़ता है।

टेकचंद की विवेकशीलता इस बात में है कि वह विशाल के साथ होने वाले व्यवहार से पाठक को सजग करना चाहते हैं कि क्यों इतना 'कुछ' बदलने के बाद भी 'कुछ' ऐसा है जो नहीं बदल रहा है। इस के क्या कारण हैं? यहाँ प्रोफेसर श्यामाचरण दुबे की वह टिप्पणी भी महत्वपूर्ण लगती है ''कि जब तक आर्थिक और सामाजिक असमानता बनी हुई है और बढ़ रही है, यह नहीं कहा जा सकता कि विकास अपने एक महत्वपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त कर चुका है।'' विशाल जैसे पात्रों के जरिए लेखक ने बहुत गहराई से स्पष्ट किया है कि कैसे मनुष्य के संबंधों में विषमता के ऐसे संस्कार सामुदायिक जीवन के संस्कारों से टकराते हैं। सामुदायिक जीवन संस्कार परस्परता के मूल्यों पर आश्रित होते हैं, विषमता के संस्कार हमेशा व्यक्तिगत सुख भोग को ही परम मूल्य बना देते हैं। दादी को अपनी पीड़ा बयान करता हुआ विशाल महसूस करता है कि ''सब को जहाँ पाँच से दस मिनट में डॉक्यूमेंट वेरीफाई कर निपटा दिया, वहीं विशाल और जू चामो मांथन को घंटा भर तक गहरी जाँच-पड़ताल और अधिकारियों की बेधती नजरों से गुजरना पड़ा।'' विशाल और जू चामो मांथन जैसे पात्रों के साथ होने वाले व्यवहार से टेकचंद सामाजिक गतिशीलता को बाधित करने वाली जाति, धर्म जैसी बड़ी अड़चनों को बहुत सरलता से पाठक के सामने रख देते हैं।

कहानी में लेखक ने देश के युवाओं के दिशाहीन होने का बड़ा कारण दिन-ब-दिन बेरोजगारी का बढ़ते जाना भी माना है। बेरोजगारी खुद एक समस्या है और अनेक समस्याओं की जड़ भी है। आज के युवा मानते हैं कि पैसा ही हैसियत के सभी साधनों का स्रोत है। युवा उस चकाचौंध के पीछे दौड़ रहे हैं जो बाजारीकरण के कारण चारों ओर फैली हुई है। रोजगार के अवसरों को सीमित कर शिक्षित युवाओं के सामने बेरोजगारी की विकराल समस्या खड़ी कर दी गई है। ''सुदूर गाँवों, कस्बों, अंचलों में हाडतोड़ सर्दी, झुलसाती गर्मी और पाँव गला-फुला देने वाली बरसात में परिवार के परिवार जो भी कमा पाते उस से जूता, कपड़ा खरीदने या पेट में डालने के बजाए यहाँ पढ़ रहे अपने नौनिहालों को भेज देते हैं। दिहाड़ी मजूरी, कसाले की थकान से चूर-चूर माँ बाप को लगता है कि बस उन्हीं का लाल, उन्हीं का बच्चा... । और ऐसा लाखों लोग एक साथ सोचते हैं। लाखों का प्री, हजारों का मेंस, सैकड़ों का इंटरव्यू और कुछ सौ का चयन...बाकी कहाँ गए? क्या हुआ? कोई नहीं जानता।'' बेरोजगारी के कारण युवाओं में आसान तरीके से पैसे कमाने का चाव बढ़ रहा है जिसे लेखक ने एक गंभीर समस्या माना।

स्त्रियों को ले कर भी रचनाकार की चिंता दिखाई देती है कि कैसे आज भी लड़के-लड़कियों में अंतर माना जाता है। आज भी लड़कियों को पढ़ने की उम्र में कमाने में लगा दिया जाता है। कथाकार ने लिखा है कि ''माँ के साथ काम से आती-जाती, घर पर ही बटन टांकने, धागे काटने, फैक्ट्रियों से घर ला कर किए जाने वाले पैकिंग वगैरह के कामों ने ज्यादातर लड़कियों को पढ़ाई से हटा

कर पर पीस, पर पैकिंग से मिलने वाले पैसों की ओर मोड़ दिया है।'' स्त्री शिक्षित व आत्मनिर्भर बने यह किसी भी समाज के लिए आवश्यक है लेकिन विडंबना यह है कि आज भी स्त्री शिक्षा का महत्त्व केवल खानापूर्ति भर ही दिखाई देता है। लेखक के शब्दों में कहा जाए तो ''अपना दहेज जोड़ रही है' या 'ओपन से पढ़ रही है और अपनी पढ़ाई का खर्च भी निकाल रही है।'' लेखक ने बहुत सरलता से स्थिति की गंभीरता को पाठकों के सामने खोल कर रख दिया है जो इस बात को सहज ही समझ जाएं कि सार्वजनिक कार्यों में भ्रष्टाचार और व्यक्तिगत संबंधों में निर्मम स्वार्थ लोलुपता इस आसान पैसे की संस्कृति का ही परिणाम है। ध्यान दें तो हम देखते हैं कि लेखक ने समस्या को सतही ढंग से नहीं रखा बल्कि उस के एक-एक पक्ष को उद्घाटित कर दिया है और यह बात सच भी है कि दहेज की प्रथा भी इन्हीं बीस वर्षों में बहुत बढ़ी हुई दिखाई देती है। परिवार और विशेष कर लड़कियाँ यह जान गई हैं कि यदि विवाह में उन साधनों की प्राप्ति न हो तो विवाहित को मारने पीटने से ले कर जला देने तक कोई भी किसी भी तरह की हैवानियत पर उतर सकता है। आये दिन समाचार पत्र इस तरह की घटनाओं से भरे पड़े रहते हैं।

विशाल की दोस्त अदिति का विशाल से अलग होना भी गंभीर सवाल सामने लाता है कि सवर्णों द्वारा आरक्षित वर्ग में घुसने के भयानक परिणाम झेलने पड़ते हैं, भले ही वह प्रेम जैसे कोमल भाव क्यों न हो। जब विशाल ने यह जान लिया कि अदिति उसे प्यार के जाल में फंसा रही है और रजत के साथ उस के संबंध है तो विशाल अदिति से सच जानना चाहता है तो अदिति विशाल को उस की जगह बताते हुए कहती है कि ''कौन सा प्यार? कैसा विश्वास?'' इतना ही नहीं अदिति विशाल को अपमानित करते हुए कहती है कि ''तुमने अपनी औकात बता दी.।'' इस प्रकार प्रेम संबंधों के माध्यम से टेकचंद स्वार्थों के घात-प्रतिघात और छल का चित्रण बड़ी गहराई से करते हैं और स्पष्ट कर देते हैं कि प्रेम जैसा कोमल भाव भी जाति और धर्म के दंश से दूर नहीं है।

'मोर का पंख' कहानी संग्रह की कहानियों में एक अन्य विशेषता जिस ने मुझे बहुत गहराई से प्रभावित किया वह है रचनाकार की लगभग हर कहानी में कस्बे का जिक्र। कस्बाई जीवन का आधार ग्रामीण संबंधों और जीवन शैली को समाहित किए रहता है तथा आधा महानगरीय प्रभावों और आधुनिक चमक-दमक से प्रभावित होता रहता है। इसी से कस्बाई संस्कृति की संरचना और उलझनों का पता चलता है। ''वह जो यथार्थ था'' नामक अपनी पुस्तक में अखिलेश भी कहते हैं कि 'अभाव और स्वप्न' की कशमकश में कस्बाई मानस का निर्माण होता है। टेकचंद भी इस बात को बखूबी समझते हैं और इसीलिए वह अपनी कहानियों में गाँवों को भावुक दृष्टि से नहीं देखते और इसीलिए ग्रामीण जीवन की घुटन, यातना और विकल्पहीनता के नीचे दबी असंतोष भावना और मुक्ति की चाह को भी खूब पहचानते हैं।

टेकचंद अपनी कहानियों में विभिन्न पात्रों के माध्यम से समस्याएं उठाते हैं और इन समस्याओं को सामाजिक परिवर्तन, मानवीय संबंध और नैतिक मानदंड के विभिन्न प्रसंगों के संदर्भ में गहराई से चित्रित करते हैं। इसीलिए एक जैसी लगने वाली समस्याएं भी अपनी पूरी विविधता के साथ प्रस्तुत हो कर आज का भरापूरा सामाजिक परिदृश्य निर्मित करते हैं। साथ ही चुनौतियों से मुठभेड़ के लिए भी लगातार प्रेरित करते हैं। उन की यही विशेषता उन्हें एक विशिष्ट रचनाकार के रूप में उभारती है।

## आधार ग्रंथ

टेकचंद मोर का पंख तथा अन्य कहानियां - वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली , प्रथम संस्करण -2015

## सहायक ग्रंथ

1. श्यामाचरण दुबे, परंपरा और परिवर्तन, भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2003
2. रमेश उपाध्याय, हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार, राधा पुब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1996
3. रमणिका गुप्ता (चयन व संपादन), दलित कहानी संचयन, साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण, 2003
4. बटरोही, कहानी : संवाद का तीसरा आयाम, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1983

**डा. पूनम यादव**
जानकी देवी मेमोरियल कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

# *जयशंकर प्रसाद के गीतों में वेदना*

*–डा. कादम्बिनी मिश्रा*

यदि गीत का सामान्य अर्थ गेय-काव्य समझा जाए तो इस रूप में यह विधा उतनी ही प्राचीन ठहरेगी जितनी कि कविता का इतिहास। फिर भी उपलब्ध साहित्य में हम इसे गीत-गोविंद की परंपरा से तो जोड़ ही सकते हैं। गीत लघु आकार की उस प्रगीत रचना को कहते हैं जिस में कवि संगीत के प्रति सजग रहते हुए उस का रूप निर्माण करता है। भावनाओं का अंतः प्रेरित आवेग या सहज उच्छलन गीति-काव्य का सामान्य गुण होता है। प्रवाहमय भावनाओं के रूप में आंतरिक या भाव संगीत तो प्रगीत में विद्यमान रहता ही है। इसी अंतः संगीत से युक्त कविता की रचना जब इस रूप में की जाए कि उस में बाह्य संगीत का विधान सहज संभव हो अथवा कवि जब स्वयं बाह्य संगीत का विधान कर प्रगीत रचना करता है तो वह गेय-काव्य गीत कहलाता है। ''कविता जो संगीतमय सरल एवं अति भावात्मक हो और जिस में लय, स्वर, तुक एवं नाद का ध्यान इस ध्येय से रखा जाए कि उस का संगीत पर्याप्त समय तक कानों में गूंजता रहे, भले ही उस का संगीत आंतरिक हो अथवा वाह्य।''[1] लय का संगीत तो छंद के रूप में कविता में विद्यमान रहता ही है लेकिन संगीत से यहाँ अभिप्राय लय और गति के संगीत से भिन्न ऐसी रचना से है जिसे गाने में किसी प्रकार की असुविधा ना हो, तथा वह संगीत कला की विधि से गाने योग्य हो सके।

वैसे तो राग रागिनियों में ढली और शास्त्रीय तालों में बंधी रचनाएं तो बहुत पहले से होती आ रही थी किंतु काव्य शास्त्र में गीति-काव्य-विधा को अलग से विवेचन का विषय नहीं बनाया गया था। आधुनिक काल में गीति शैली का स्वरूप अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से कुछ और विशिष्ट हो गया। प्राचीन पद शैली की भांति यह गीत कथात्मक लोक भावना के अभिव्यंजक नहीं आभ्यन्तरिक और व्यक्ति के कोमल उद्‌गारों के व्यंजक होते हैं। इस में केवल गेयता की रक्षा नहीं की जाती भावनाओं के संगीत को यथावत शब्दों द्‌वारा रूपांतरित करने का प्रयत्न किया जाता है, अतः इन की भाषा और शब्द चयन अधिकाधिक नाद सौंदर्य से युक्त होता है। गाये जाने योग्य कविताओं में रुक कर अर्थ ग्रहण करने का अवकाश नहीं होता जितना संभव हो सके प्रसाद गुण की रक्षा का प्रयास किया जाता है। कवि अत्यंत मार्मिक किन्तु सरल भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतों में करता है। इस के लिए मूल भावनाओं के अनुरूप प्रसाद गुणों से युक्त कर्णप्रिय शब्दावली और साथ में छोटे और लयात्मक छंदों का चयन अनिवार्य हो जाता है। थिरकते छंद और संगीतमय अन्त्यानुप्रास

की योजना आधुनिक काल के गीतों की विशेषता रही है। इस प्रकार गीत की परिभाषा को हम इस रूप में देख सकते हैं। कविता जो संगीतमय सरल एवं अति भावात्मक हो और जिस में लय, स्वर, तुक एवं नाद का ध्यान इस ध्येय से रखा जाए कि उस का संगीत पर्याप्त समय तक कानों में गूंजता रहे भले ही उस का संगीत आंतरिक हो अथवा वाह्य।'

आधुनिक काल के हिंदी गीतों पर रोमांटिक काल का प्रभाव होते हुए भी इन का संगीत, छंद विधान, अप्रस्तुत योजना और संस्कार भारतीय ही थे। इन कवियों ने अपने वैयक्तिक अनुभूतियों को कला और विषय का पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करने पर भी अपने ही सांचे में ढाला। छंद इन के अपने रहे संगीतात्मकता का समावेश भी इन्होंने भारतीय शास्त्रीय अथवा लोक संगीत की दृष्टि से ही किया। भाषा की अभिव्यंजना शक्ति, मूर्तविधान, अर्थ-व्यंजक नाद-सौंदर्य आदि पर विदेशी प्रभाव देखा जा सकता है। समग्रता में इस युग की गीति रचना भारतीय लोक संगीत और शास्त्रीय संगीत से ही समन्वित थी।

अब कुछ बातें वेदनानुभूति के विषय में भी। गीतों में एक उल्लास और जीवनोत्सव के भीतर बहुत महीन तरीके से करुणा और पीड़ा की हल्की मिठास लिपटी रहती है। इसीलिए मादकता के साथ एक वितराग हरदम बना रहता है जो हमारे मन को बरबस खींचता है। भावात्मक संबंधों में वेदना और त्रास की जगह हरदम होती है। आनंद के भीतर वेदना नाभि केंद्र है जिसे प्रसाद के गीत सूक्ष्मता से प्रकट करते हैं। एक कोंपल जब डाली में नरम कली के रूप में प्रस्फुटित होती है, उस की नियति उसी समय इस शाश्वत सत्य की ओर अभिमुख होती है कि उसे अंततोगत्वा डाली से टूट कर मिट्टी में मिल जाना है। यही विषाद योग उस की परिणति है। अंकुर उस का आरंभ बीच में यौवन और उल्लास का अविरल प्रवाह जो जीवन नद कहलाता है, लेकिन नियति विषाद ही है। इसलिए उच्च कोटि के गीतों में बड़ी सहजता से इस जीवन दर्शन को समाहित होने योग्य बना कर, एक रचनाकार प्रस्तुत करता है। प्रसाद ने यह कार्य बड़ी कुशलता से किया है।

इस युग में प्रसाद के साथ महादेवी, पंत, निराला, बच्चन, रामकुमार वर्मा आदि भी प्रमुख गीतकार रहे हैं। प्रसाद की अधिकांश से गीति रचना उन के नाटकों में ही प्रसंग वश की गई है। इन में कुछ गीत राष्ट्र को समर्पित थे, शेष की अभिव्यक्ति रचना विशिष्ट पात्रों की आत्माभिव्यक्ति के रूप में हुई है। इन गीतों में भावावेग, सुंदर कल्पना और कलात्मक उत्कृष्टता प्रचुर है। संगीत की शास्त्रीय परिपाटी के अनुसार विभिन्न राग-रागिनियों में इन्हें बाँधा गया है। यूं तो छायावादी कवियों ने अभूतपूर्व गीत लिखे हैं, किंतु आज हम प्रसाद के गीतों की मार्मिक वेदना को फिर से अनुभूत करने का प्रयत्न करेंगे। प्रसाद ने मधुर भावों की सृष्टि कर प्राकृतिक वर्णनों को गीतों के कलेवर में डालकर प्रस्तुत किया जिस में हृदय की भावनायें घनीभूत और केंद्रीभूत हो कर गेय हो उठीं। चित्राधार की सूक्ष्म जिज्ञासायें दिव्य सौंदर्य रूप ले कर प्रकट हुई हैं। विरह वेदना मार्मिकता और अनुभूति की प्रगाढ़ता से युक्त कुछ पंक्तियां देखे जाने योग्य हैं।

*आज तो नीके नेह निहारो।*
*पावस की घन तिमिर भार में,*
*बीती बात बिसारो चमकि गयो जो चपला सम,*
*यह प्रियतम विरह तिहारो ताकि बहाओ रस बरसा में,*
*हे घन आनंद वारो ॥*[2]

प्रसाद के आंसू में व्यक्त वेदना, सहसा होने वाले आघात और शोक का परिणाम नहीं बल्कि इस में तिल-तिल कर एकत्र घनीभूत पीड़ा का सहज प्रवाह है, आवेग मय झकोरे नहीं बल्कि देर तक होने वाली रिमझिम बरसात है। धीरे-धीरे पूंजीभूत पीड़ा मस्तिष्क में स्मृति बन जाने के कारण संयत और व्यवस्थित हो गई है। कवि ने स्वयं इस प्रेरणा की व्याख्या आरंभ की है :

*इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती*
*क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती?*
*मानस सागर के तट पर क्यों लो लहर की घातें*
*कल-कल ध्वनि से हैं कहती कुछ विस्मृत सी बातें?'*[3]

भूली हुई पीड़ा के बार-बार मानस पटल पर टकराने से उपस्थित आंदोलन कवि के मन को मथ दे रहा है और वह पुनः पुनः व्यथित होता है। उस की व्यक्तिगत निराशा दार्शनिक चिंतन की छाया में अभिव्यक्त हुई है। फिर भी भावनाओं का झंझावात पर्याप्त है। विगत स्मृतियाँ दुख और आँधी ले आती हैं। हृदय और मुझे मन के भीतर संताप और वेदना की नीली लौ धीमे-धीमे जलती रहती है। यह कभी नहीं बुझती ज्यों-ज्यों अभाव की अनुभूति तीव्र होती जाती है। वेदना के इस प्रवाह में कुछ मधुरतम स्मृतियाँ प्रतिबिंबित होती हैं और चित्र अंकित होते हैं। इसलिए, इस वेदनामय अंकन के दौरान भी कवि इस रुदन में ही विश्व कल्याण का साक्षात्कार करता है और आशा का भी संदेश देता है :

*सब का निचोड़ लेकर तुम सुख के सूखे जीवन में*
*बरसो प्रभात हिमखंड-सा आंसू इस विश्व सदन में*[4]

वेदना की स्याही से लिखी इस गीत का स्वरूप चिंतन प्रधान हो गया है। दार्शनिकता का हल्का स्पर्श शुरू से अंत तक देखा जा सकता है। शोक-गीत की सभी विशेषताएं करुण स्वर, व्यक्तिगत अनुभूति, गंभीर्य और चिंतन इस में व्याप्त है। प्रेरणा आकस्मिक और विशिष्ट नहीं, शनै-शनैः संचित वेदना संयत है। वैसे तो कई कवियों ने कविता लिखी है, पर प्रसाद की कृति वेदना का प्रतीक बन जाती है जो कवि के हृदय में आंदोलित कई स्मृतियों के परिणाम स्वरूप उद्‌भुत हुई है।

आंसू पूर्णतः मानवीय विरह का काव्य है। उस में वियोग श्रृंगार की प्रधानता है। सौंदर्य और आकर्षण की मादकता के साथ दीर्घकालीन स्मृति में करुणा की रागिनी और अशेष पीड़ा है और अंत में समष्टि चेतना है।

'आँसू कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का अविष्कार है। आँसू में कवि निःसंकोच भाव से विलास जीवन का वैभव दिखाता फिर उस के अभाव में आँसू बहाता और अंत में जीवन से समझौता करता है। विलास में जो मद है जो विराट आकर्षण है, उसे कभी उतने ही विराट रूपकों और उपमानों से उसे प्रकट करता है। उस के अभाव में जो वेदना है वही 'आंसू' बन कर निकली है।'[5]

इस कृति में कवि का आत्म स्वीकार है, प्रत्यक्ष जीवन में वियोग है। कवि ने स्मृति जन्य वेदना का पाथेय बना लिया है और आँसुओं के अर्घ्य भेंट किए हैं। आँसू का आरंभ अतीत की स्मृति से होता है। प्रेम का रूपहला लोक तिरोहित हो चुका है। आज भी वह सुंदर हस्ताक्षर की तरह अन्तः स्थल में अंकित है। निस्सीम आकाश में वह सौंदर्य चिर-स्थायी हो गया है :

*माना कि रूप सीमा है*
*सुंदर तव चिर यौवन में*
*पर समा गए थे मेरे*
*मन के नसीम गगन में।*[6]

कवि वेदना के सागर में डूबता उतराता रहता है और इसी क्रम में वह नए सूत्र भी ढूंढ निकालता है। पीड़ा की चरम सीमा पर पहुंच कर उसे इस दर्शन की अनुभूति होती है कि अखिल संस्कृति ही व्यथाओं से भरी है। दुख तो इस संसार के कण-कण में व्याप्त है :

*'मानव जीवन वेदी पर*
*परिणय हो विरह मिलन का*
*सुख दुख दोनों नाचेंगे*
*है खेल आँच के मन का।'*[7]

कवि की व्याकुल वेदना चौदहो भुवन में घूम कर लौट आई पर कहीं भी विश्राम या सुख न मिला। वेदना के साथ ही वह विराट वाह्य साथ अपना रागात्मक संबंध स्थापित कर अपनी चेतना को उद्‌दात बना कर परिष्कृत करता है। विश्व वेदना ही उसे संपूर्ण सृष्टि के साथ आत्मीयता और बंधुत्व की भावना प्रदान करती है। यह वसुधा भी चिरदग्ध-दुखी कवि वेदना को मानवता के सिर की रोली और सदा सुहागिन मानता है :

*इस व्यथित विश्व पतझड़ की*
*तुम जलती हो मृदु होली*
*है अरुणे सदा सुहागिन*
*मानवता सिर की रोली*[8]

कवि वेदना की ज्वाला से सारा कलुष जला देने के लिए निवेदन करता है। समस्त निर्मम संसार को मंगलमय कर देना चाहता है। यह वेदना ज्वाला अत्यंत कल्याणकारी है जो लगातार जलती हुई अपने आलोक में दूसरे की पीड़ा को भी सहानुभूति से देखती है :

*'निर्मम जगती को तेरा*
*मंगलमय मिले उजाला*
*इस जलते हुए हृदय की*
*कल्याणी शीतल ज्वाला।*[9]

अपनी पीड़ा में रम कर भी कवि वंचित, भूखे और निराश नैनो को नहीं भूला है :

*फिर उन निराश नयनों की*
*जिन के आंसू सूखे हैं*
*उस प्रलय दशा को देखा*
*जो चिर वंचित भूखे हैं।*[10]

कवि व्यक्तिगत वेदना और निराशा से निकल कर जगत कल्याण की ओर आशाप्रद नवीन जीवन दर्शन की कामना करता है। इस विश्व-सदन में वह आँसुओं के प्रभात हिम-कण के समान जीवन में बरसा कर कल्याण की कामना करता है :

*सब का निचोड़ ले कर तुम*
*सूखे से जीवन में*
*बरसों प्रभात हिम कण सा*
*आँसू इस विश्व सदन में।*[11]

वेदना की महिमा अपरंपार है। कवियत्री महादेवी वर्मा को भी वेदना मधुर लगती है इसीलिए उन्होंने लिखा है, 'दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बांधे रखता है। हमारे असंख्य सुख चाहे हमें मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी नहीं पहुंचा सके किंतु हमारा एक बूंद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता।' इसलिए कवि कि यह मानवीय करुणा उस की वेदना का ही प्रतिफल है। वेदना की अधिकता के कारण निराश हो कर न ही उस में जड़ता आती है और न ही वह वैराग्य की बात सोचता है। बल्कि, वह मानवतावादी भूमि पर उतर कर जीवन का स्वस्थ सामंजस्य प्रस्तुत करता है।

आज संसार जिस दौर से गुजर रहा है। उस में एक गहरी निराशा, हताशा और अवसाद का वातावरण परिव्याप्त है। सामान्यतः, निराशा व्यक्ति को जड़ता की ओर ले जाती है। फिर उसे उदासीनता और निष्क्रियता घेर लेती है। वह सघन अवसाद में घिरने लगता है। ऐसे में इन कवियों को बार-बार पढ़ने, समझने और आत्मसात करने की आवश्यकता जान पड़ती है। वस्तुतः ऐसी रचनाएं हमें निराशा से आशा और जागृति से जनकल्याण की ओर उन्मुख करती हैं।

## संदर्भ


1. डा शकुंतला दुबे, 'काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास' पृ. 344-45
2. प्रसाद, चित्राधार, kavitakosh-Org
3. जयशंकर प्रसाद, 'आँसू', भारती भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, 17 वां संस्करण, पृ. 7-8
4. वही, पृ. 78
5. नंददुलारे वाजपेई, 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृ.115
6. जयशंकर प्रसाद, 'आँसू', भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद 17 वाँ संस्करण, पृ. 20
7. वही, पृ. 46
8. वही, पृ. 61
9. वही, पृ. 63
10. वही, पृ. 78
11. वही, पृ. 79



**डा. कादम्बिनी मिश्रा**
20/321, गोंड़पारा
बिलासपुर (छ.ग.)
पिन-495001
मो. 9300617212

# *विकलांग विमर्श एवं हिंदी महिला-कथाकार*

*–डा. अपराजिता जॉय नंदी*

सामान्यतः विमर्श शब्द से तात्पर्य चर्चा-परिचर्चा, तक-वितर्क, संवाद आदि से है। जब कोई व्यक्ति किसी समूह में किसी विशेष विषय पर चिंतन, चर्चा-परिचर्चा आदि करता है तो वह विमर्श कहलाता है। डा. भोलानाथ तिवारी के शब्दों में–''तबादला-ए-ख्याल, परामर्श, मशविरा, राय-बात, विचार-विनिमय, विचार-विमर्श, सोच-विचार आदि विमर्श के दायरे में आता है।''1 वर्तमान युग भूमण्डलीकरण एवं उसे वैचारिक आधार देने वाला आधुनिक विमर्श का युग है जिस के प्रभाव से साहित्य में नित नये बदलाव द्रष्टव्य हो रहे हैं। हाल ही के दशकों में साहित्य जगत में नये-नये विमर्शों का पदार्पण हुआ है, वे विमर्श हैं– स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, आदिवासी-विमर्श, अल्पसंख्यक-विमर्श, वृदध-विमर्श, किन्नर-विमर्श एवं विकलांग-विमर्श आदि। ये विमर्श साहित्य को एक नवीन दृष्टि देते हैं।

विकलांग विमर्श की अवधारणा अतीत से चली आ रही है। पौराणिक कथा से ले कर भिन्न-भिन्न किस्से-कहानियों में विकलांगता की चर्चा की गई है, किंतु अधिकांशतः यह चर्चा विकलांगों की व्यथा से संबंधित कम और पाप-पुण्य के मध्य फंसे विकलांग के भाग्य की दुर्दशा से अधिक हुआ करती थी। उदाहरण स्वरूप, महाभारत के पात्र धृतराष्ट्र को ही लिया जा सकता है। धृतराष्ट्र का जीवन भी विकलांगता के व्यथा की कहानी रही है। नियमानुसार राजा के बड़े पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाता था। धृतराष्ट ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण इस पद का अधिकारी था, किंतु नेत्रहीन होने की वजह से उन्हें उन के अधिकारों से वंचित रखा गया और पाण्डु को राजा बना दिया गया। रामायण की पात्र मंथरा की भी कहानी यही रही। मंथरा जो वास्तविक रूप में एक स्वामी-भक्त दासी थी, अपनी स्वामिनी माता कैकेई की सेवा में अपना संपूर्ण जीवन न्यौछावर कर दिया। वह अपने स्वामिनी के पुत्र को राजगद्दी दिला कर उस का भला करना चाहती थी, इसलिए मंथरा ने अपनी स्वामिनी को अपने पुत्र के लिए राजगद्दी मांगने का सुझाव दिया था, किंतु इतिहास व समाज आज भी मंथरा को कुदृष्टि से ही देखता है। कारण, क्योंकि वह विकलांगता की शिकार थी। समाज को उस की स्वामिभक्ति नहीं, उस का शारीरिक गठन ही नजर आया। ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं।

हमारे समाज में बहुत से ऐसे लोग हैं जो विकलांग है। शरीर का कुछ अंग क्षतिग्रस्त है। यह स्थिति जन्मजात भी हो

सकती है या दुर्घटनावश भी किंतु उस विकलांग व्यक्ति को ही दोषी मान कर समाज उस की अवहेलना करता है। समाज की इस दृष्टि को झेलने के लिए विकलांग व्यक्ति विवश हो जाता है। किसी भी कार्य को करने के लिए वह घबराता है। यह घबराहट समाज के दृष्टिकोण का है, क्योंकि समाज का व्यवहार ऐसे लोगों के प्रति प्रायः नकारात्मक ही रहा है और इस नकारात्मकता के पीछे सदियों की एक सामाजिक परंपरा है और उस परंपरा में देखते हैं कि समाज शारीरिक एवं मानसिक रूप से परिपूर्ण व्यक्ति को ही मनुष्य मानता है। किसी भी रूप में क्षतिग्रस्त व्यक्ति को समाज की हेय-दृष्टि का शिकार होना पड़ता है। समाज हमेशा पूर्ण रूप की ही कामना करता है। संपूर्ण, सर्वांग एवं सुंदरता यही मनुष्य के सौंदर्यशास्त्र का सामान्य मापदण्ड होता है। जो व्यक्ति इस में पूर्ण रूप से खरा उतरता है, वही समाज का अंग कहलाता है और जो कुरूप, अपूर्ण या मंदबुद्धि होता है, वह समाज के लिए हेय या दया का पात्र बन जाता है। समाज इस तरह के सौतेले व्यवहार में यह भूल जाता है कि ईश्वर की संरचना से ही यह संसार गतिमान है।

विकलांगों के प्रति समाज के दृष्टिकोण को बदलने में सामाजिक कार्यकर्ता के साथ-साथ साहित्यकारों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से लगातार विकलांग और सकलांग के मध्य की खाई को पाटने का प्रयास करता है। साहित्यकारों ने विकलांगों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए, समाज में उन्हें उचित स्थान व सम्मान दिलाने के लिए, विकलांगों की व्यथा को समाज के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए अपनी रचनाओं का विषयवस्तु बनाया एवं अपने पात्रों के माध्यम से इन सभी पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। ''वास्तव में लेखक अपने अनुभव से यह जानता है कि उसे जो कहना महत्वपूर्ण है और जिस तरह से यह बीज धारण करता है, उसी में उस की आकृति, स्वभाव, गुण सब निहित होता है।''2 हिंदी में ऐसी महिला-कथाकारों की रचनाएं उपलब्ध हैं जिस में विकलांगों की दशाओं, कष्टों और कुण्ठाओं को शब्दों में गूंथ कर पाठक के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया गया कि वह पाठक इन पर विचार करने पर विवश हो जाए। शिवानी कृत 'कृष्णवेणी', मृदुला सिन्हा कृत 'ज्यों मेंहदी को रंग', चित्रा मुद्गल कृत 'आवाँ' विकलांग-विमर्श के विविध पहलुओं को स्पर्श करने वाले प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इन उपन्यासों के पात्र समाज से तिरस्कृत भावना के शिकार हैं। समाज के इस तरह के व्यवहार से विकलांग व्यक्ति का जीवन ऐसे तिमिर में चला जाता है जिस के अनुभव मात्र से मनुष्य भयभीत हो जाता है।

शिवानी द्वारा रचित 'कृणवेणी' कुष्ठ रोग की समस्या पर आधारित एक ऐसा करुणामयी उपन्यास है जिस में एक विकलांग प्रेमी की विवशता को चित्रित किया गया है। 'कृणवेणी' उपन्यास के बारे में डा. सातप्पा शामराव सावते लिखते हैं–''कृणवेणी उपन्यास में एक विकलांग प्रेमी की त्रासदी का चित्रण किया गया है। कुष्ठ रोग से विकलांग होने के कारण उस प्रेमी को अपना घर-बार छोड़ना पड़ता है। भास्करन को कोढ़ग्रस्त होने पर शिवानी द्वारा प्रस्तुत किया गया वर्णन पाठकों के मन में कोढ़ग्रस्त रोगियों के बारे में दया-भाव का निर्माण करने में सहायक बनता है।''3 शिवानी जी का यह प्रयास रहा है कि कुष्ठ रोगियों के प्रति समाज का जो व्यवहार है, वह बहुत ही निंदनीय है। जो व्यक्ति स्वयं कुष्ठ रोग की व्यथा को झेल रहा हो, उस पर समाज का नकारात्मक व्यवहार उस रोगी को मानसिक रोगी भी बना देता है जो उचित नहीं है।

श्रीमती मृदुला सिन्हा का उपन्यास 'ज्यों मेंहदी को रंग' विकलांगता के एक अलग पहलू को ले कर प्रस्तुत हुआ है। मानें तो यह उपन्यास कम विकलांग-व्यथा की आपबीती अधिक है। मृदुला सिन्हा का पुत्र विकलांगता का शिकार रहा जिस के कारण उन्होंने विकलांग-व्यथा को शब्दों में पिरोया है। इसलिए इस उपन्यास में यथार्थ का चित्रण अधिक झलकता है। यह कहा जा सकता है कि विकलांगों के प्रति लेखिका का जुड़ाव और इस उपन्यास का उद्भाव भोगे हुए यथार्थ की ही छवि है। सकलांग रूप में जीवन व्यतीत करते-करते दुर्घटनावश विकलांग जीवन को अपनाना, मानसिक व शारीरिक रूप से व्यथा को सहना एवं लोगों के बदलते व्यवहार को स्वीकारते हुए पुनः स्वयं को आत्मनिर्भर बनाने की कहानी कहता है यह उपन्यास। इस उपन्यास के संबंध में जैनेन्द्र कुमार ने कहा है–''विकलांगों को आधार बना कर लिखा गया संभवतः यह हिंदी का प्रथम उपन्यास है। सरकारी और गैर-सरकारी प्रयत्नों से भी बढ़ कर स्वयं विकलांगों की मानसिकता में परिवर्तन की राह दिखाता यह उपन्यास जीवंत और समाजसेवी है।''4 इस उपन्यास में लेखिका ने बहुत ही सरल शैली में विकलांगों की समस्याओं को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'आँवा' में देवीशंकर पाण्डे नाम का पात्र जो लकवाग्रस्त हो जाता है। बिस्तर में पड़े-पड़े वह विकलांगता जैसा जीवन व्यतीत करने लगता है। वह पूर्ण रूप से अपनी पुत्री नमिता पर आश्रित रहता

है। देवीशंकर स्वयं को असमर्थता की स्थिति में महसूस कर अंदर-ही-अंदर कुण्ठित हो जाता है, किंतु इलाज से वह जब थोड़े स्वस्थ हो जाता है, तो पुनः काम पर लौटने का विचार कर निकल पड़ता है। विकलांगता का दंश झेल चुके पाण्डे जी अपनी बेटी नमिता को परिस्थितियों का सामना करना सिखाते हैं, किंतु कुछ ही दिनों में स्वास्थ पुनः बिगड़ जाने पर पाण्डे जी की मृत्यु हो जाती है। इलाज के दौरान अस्पताल में विकलांग व्यक्ति के प्रति नकारात्मक व्यवहार का चित्रण बखूबी किया गया है। विकलांग की दशा पर डा. कल्पना पाटिल जी लिखती हैं–''पाण्डे जी शारीरिक विकलांग हैं, किंतु मन से पूर्ण सशक्त हैं। अपनी बेटी को स्वतंत्र निर्णय लेने की स्वतंत्रता ही नहीं देते, वरन् उस का मनोधैर्य भी बढ़ाते हैं। विवेक को जागृत रखते हैं, आत्मनिर्भर जीवन जीना सिखाते हैं।''5इतने आत्मनिर्भर, सशक्त व्यक्तित्व वाले पाण्डे जी की पत्नी को भी अपने विकलांग पति की मृत्यु का ज्यादा दुःख नहीं है। यही विकलांग की विडम्बना है कि समाज उसे भार के रूप में ही स्वीकार करता है।

वस्तुतः विमर्श का मुख्य उद्देश्य है समाज में बदलाव लाना। अब यह बदलाव जमीनी तौर पर हो या साहित्यिक। चूंकि, साहित्य ही समाज में किसी विषय को आंदोलन का रूप दे सकता है, इसलिए विमर्श को बदलाव का दूसरा रूप कहा जा सकता है। विकलांग समाज की समस्या नहीं है, विकलांगता समाज की समस्या है। यह विकलांगता विचारों की विकलांगता है, असमानता की विकलांगता है। समाज के विचारों की इस विकलांगता को समाप्त करने के लिए साहित्य को हथियार बनाया जा सकता है। ऐसे अधिक-से-अधिक रचनाओं का सृजन किया जाए जो विकलांगों की व्यथा से लोगों को परिचित करा सकें। साथ ही विकलांगों को प्रेरित करने वाली रचनाओं का भी सृजन किया जाना चाहिए, ताकि उन का भी मनोबल शक्तिशाली बन सके। यह प्रमाणित है कि यदि ईश्वर किसी से कुछ छीनता है तो उस के बदले उसे कुछ-न-कुछ अवश्य ही वापस करता है। अब यह तो व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह उस की पहचान कर पाता है या नहीं। जिस ने उसे पहचान लिया वह इतिहास के पन्नों पर स्वयं को शामिल कर लिया। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जो विकलांग होने के बावजूद, स्वयं को एक सक्षम व्यक्ति से अधिक प्रतिष्ठित किया है। विकलांग भी अपनी भीतरी शक्ति को पहचाने और उस पर क्रियाशील हो कर आगे बढ़ें।

## संदर्भ


1. तिवारी, भोलानाथ, हिन्दी पर्यायवाची कोश, पृ. सं. 18.
2. मिश्र, अनन्तराम, साहित्य और सामाजिक परिवर्तन, पृ. सं. 103
3. गौतम, डा. सुरे श, विकलांग-विमर्श का वैश्विक परिदृश्य, पृ. सं. 531
4. पाठक, डा. विनय कुमार, विकलांग-विमर्श : दशा और दिशा, पृ. सं. 97
5. गौतम, डा. सुरे श, विकलांग-विमर्श का वैश्विक परिदृश्य, पृ. सं. 541



**डा. अपराजिता जॉय नंदी**
जी-170, एसेट टाउन, सड्डू, विधानसभा मार्ग
रायपुर, छत्तीसगढ़, मो. 9009449950

# रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविताओं में कृषक-जीवन

—डा. मृत्युंजय कोईरी

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ की अस्सी प्रतिशत जनता किसानी-जीवन से अपना भरण-पोषण करती है। जाड़ा हो, गर्मी हो या बरसात, वे दिन-रात खेतों में मेहनत करते हैं। पर, उन्हें खाने के लिए दो वक्त की रोटी, पहनने के लिए कपड़ा, ठंड से बचने के लिए कंबल और खेत की जोताई करने के लिए एक जोड़ी बैल नसीब नहीं होता है। इतने विकास के बावजूद, भारतीय किसान सूद पर बीज, खाद, कीटनाशक और एक जोड़ी बैल आदि खरीदने के लिए विवश हैं। छायावादोत्तर हिन्दी काव्य के विख्यात कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भारतीय किसानों की त्रासदी को अपनी कविताओं—कस्मै देवाय?, दिल्ली, कविता की पुकार, हमारे कृषक और हाहाकार आदि में उजागर किया है।

दिनकर का जन्म गंगा के तट पर बसे गाँव सिमरिया घाट में हुआ था। जहाँ प्रकृति की समृद्धि के साथ भयंकर गरीबी को देखा था। सामंतवाद और उपनिवेशवाद के समय कुछ जमींदारों के अलावे शेष लोग भयानक गरीबी के बीच जी रहे थे। अकाल पर अकाल पड़ते थे। एक बार अकाल के समय उन्होंने अपने गाँव की पाठशाला के गुरुजी को पेड़ के नीचे महुए के फल को चुन-चुनकर खाते देखा था। साथ-ही, जमींदारों के अत्याचार से किसानों के परिवारों की त्रसदी को देखा था। उस समय के सामंती-उपनिवेशवादी परिवेश का वर्णन करते हुए कामेश्वर शर्मा लिखते हैं—''दिनकर का बाल्यकाल घोर देहात में बीता है जिस की भूमि को न जाने कब से गंगा अपने पावन जल से सींचती आ रही है। हरी-भरी भूमि, धान और गेहूं के लहलहाते पौधे, सरसों के फूल, उन्मुक्त पवन और मौजों में लहराती हुई गंगा दिनकर के बाल नयनों ने इन्हें हर्ष और उल्लास के साथ देखा था। उजड़ते खलिहान, क्षीणकाय किसान, जमींदारों के शोषण, भूख से तड़पते बच्चे-रोदन और उत्पीड़न का साम्राज्य-दिनकर के किशोर नयनों ने इन्हें विस्मय और पश्न की नजरों से देखा था।''[1] यही कारण है कि राष्ट्रकवि दिनकर ने अपनी कवताओं में भारत के मजबूर व विवश गरीब किसानों के दुख-दर्द को उजागर किया है।

दिनकर की कविता, 'कविता की पुकार' किसान जीवन की एक करुण तस्वीर पेश करती है। संध्या का समय है। अंधकार घिर आया है। दंपति एक टिमटिमाते दीपक के समक्ष फटे वस्त्रों में बेहाल अर्धनग्न अवस्था में हैं। इसी समय दरवाजे पर एक अतिथि पहुंच जाता है। दंपति अतिथि द्वारा उस अवस्था में देखे जाने के संकोच व लाज में सिकुड़ जाते हैं। यथा-

*अर्धनग्न दंपति के घर में मैं झोंके बन आऊंगी।*
*लज्जित हों न अतिथि सम्मुख वे दीपक तुरत बुझाऊंगी।*[2]

आज भारतीय किसान इस तरह विवश हैं कि वे अपनी लाज भी बचाने में असमर्थ हैं। इस प्रसंग में मुझे प्रेमचंद का 'कर्मभूमि' उपन्यास स्मरण होता है। जहाँ कर्मभूमि का नायक अमरकांत, नायिका सकीना से प्रेम करता है। एक दिन शाम के समय वह सकीना से मिलने उस के घर आता है। पुकारने पर सकीना उसे प्रतीक्षा करने को कहती है। लगभग एक घंटे के लम्बे अंतराल के बाद, वह उस से मिलने को आती है। बात यह थी कि सकीना के पास एक ही पैबंद लगी साड़ी थी, उस ने साफ कर सूखने को रख दिया था। जब अमरकांत मिलने आया था, उस समय सकीना पूर्णतः वस्त्रहीन थी। यह भारतीय जनता की निर्धनता की तस्वीर है।

देश के अन्नदाता खेतों में ही उमंग और उत्साह से काम करते नजर आते हैं। वे बैलों के संग बहुत आस लिये खेत की जोताई करते हैं। कृषक की सुंदरी कन्या कुछ अटपटे गीत गाते हुए धान की रोपाई करती है। पर पूँजीपति महाजन और जमींदारों की निर्दयता के कारण हमारे किसान खलिहानों में रोने पर विवश हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' की किसानों के प्रति संवेदना और किसानों की दयनीय स्थिति की झाँकी उन की कविता 'कविता की पुकार' में दिखती है।

*कवि! असाढ़ की इस रिमझिम में धान खेतों में जाने दो,*
*कृषक-सुंदरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।*
*दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,*
*रोंऊंगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दो।*[3]

किसानों की विवशता को देख कवि की कविता लोटे का गंगाजल बनकर तृप्ति देना चाहती है। वहीं तन के दिव्य स्वेदकण से मोती उपजाने की इच्छा व्यक्त करती है। आज भी हमारे अन्नदाता सूखी रोटी खाने पर विवश हैं। इन विवश किसानों के प्रति कवि की सहानुभूति देखते बनती है।

*सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धर हल,*
*तब दूंगी मैं तृप्ति उसे बन कर लोटे का गंगाजल।*
*उस के तन का दिव्य स्वेदकण बनकर गिरती जाऊंगी,*
*और खेत में उन्हीं कणों-से मैं मोती उपजाऊंगी।*[4]

पूंजीपति महाजन और जमींदारों ने भारतीय किसानों को निचोड़ कर निर्धन बना दिया है। हमारे किसान ऋण के बोझ से दब गए हैं। ऋण अदा करने के लिए किसानों को घर का सारा दूध-घी बेच देना पड़ता है। आज पूरे समाज का पेट पालने वाले किसान महाजन और जमींदारों के शोषण के कारण खुद भूखे रहते हैं। वे दूध पैदा करते हैं,

*लेकिन उन के बच्चे दूध पीने के लिए तरसते हैं।*
*ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे*
*बूंद-बूंद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे*
*शिशु मचलेंगे, दूध देख, जननी उन को बहलायेगी*
*मैं फाड़ूंगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।"*[5]

घर में दूध देख कर शिशु का मचलना और जननी का बच्चों को बहलाना मन में एक करुण तनाव उत्पन्न करता है। भूख से सूखी माँ के स्तन में भी दूध नहीं उतरता है और शिशु भूख से तड़पते हुए सो जाता है। 'हाहाकार' कविता में कवि लिखते हैं-

*पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?*
*चूस-चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता रो-विलप नगीना।*
*विवश देखती माँ, अंचल से नन्हीं जान तड़प उठ जाती,*
*अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।*[6]

किसानों के शिशु दूध के लिए रात-दिन तड़पते हैं और तड़प कर प्राण गंवाते हैं। अबोध बालकों की भूखी हड्डियाँ कब्र पर भी रोती हैं। गरीब किसानों के बच्चों के प्रति कवि की संवेदना अपरंपार है। वे गंगा माँ से आग्रह करते हैं कि वे अपने पानी को दूध में परिवर्तित कर भूख से प्राण त्याग रहे बालकों को जीवित करें।

*कब्र-कब्र में अबोध बालकों की भूखी हड्डी रोती है*
*दूध-दूध की कदम-कदम पर सारी रात होती है*
*दूध-दूध औ वत्स मंदिरों में बहे पाषान यहाँ है*
*दूध-दूध तारे बोली इन बच्चों के भगवान कहाँ है*
*दूध-दूध! गंगा तू ही अपने पानी को दूध बना दे,*
*दूध-दूध! उफ! है कोई, भूखे मुर्दों को जरा मना दे*[7]

दिनकर की कविता 'हाहाकार' भारतीय किसानों की बेमिसाल गरीबी का शोकगीत है। कभी खलिहान किसानों के लिए खुशहाली की जगह हुआ करती थी जिसे महाजन और जमींदारों के अत्याचार ने इसे रोने और आँसू बहाने की जगह बना दी है। दिन भर और साल भर मरने-खपने के बाद भी उन्हें भरपेट खाना और कपड़ा नहीं मिल पाता है। अनाज और कपड़ा दोनों का अभाव किसानों के जीवन को

आँसुओं से तर कर देता है।

*जेठ हो कि हो पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है,*
*छुटे बैल के संग, कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है।*
*मुख में जीभ,  ाक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है,*
*वसन कहाँ? सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।*
*विभव-स्वप्न से दूर भूमि पर यह दुखमय संसार कुमारी,*
*खलिहानों में जहाँ मचा करती है हाहाकार कुमारी।''*[8]

भारत की आत्मा गाँवों में बसती है। ये सभी की जबान में सुनते हैं, पर हमारे अन्नदाता के दुःख-दर्द पर सहायता करने के लिए कोई आगे नहीं आता है। हमारे किसान घास-फूस के घरों में रहते हैं। रात-दिन मेहनत कर के महलों में रहने वालों की थाली संवारते हैं। स्वयं गम के आँसू या गंगाजल को पान कर के जीवन गुजारने पर विवश हैं। दिनकर ने 'दिल्ली' कविता में किसानों की त्रासदी पर लिखा है :

*महल कहाँ? बस, हमें सहारा*
*केवल फूस-फांस, तृणदल का;*
*अन्न नहीं, अवलंब प्राण को*
*गम, आँसू या गंगाजल का;*[9]

देश के गरीब अन्नदाताओं की रोटी और वस्त्र छीन कर दिल्ली वैभव की दीवानी बन गयी है। इसीलिए कवि ने जमींदारों, महाजनों और अंग्रेज सरकार द्वारा किसानों के शोषण और उत्पीड़न को कृषकमेध की संज्ञा दी है। अपनी कविता 'दिल्ली' में दिनकर बहुत पहले भारत की राजधानी को कृषकमेध की रानी कह चुके थे। कवि आक्रोश भरे स्वर में उस की आलोचना करते हुए लिखते हैं—आहें उठीं दीन कृषकों की,

*मजदूरों की तड़प, पुकारें, अरी! गरीबों के लोहू पर*
*खड़ी हुई तेरी दीवारें।*
*अंकित है कृषकों के दृग में तेरी निठुर निशानी,*
*दुखियों की कुटिया रो-रो कहती तेरी मनमानी।*
*औ, तेरा दृग-मद यह क्या है? क्या न खून बेकस का?*
*बोल, बोल क्यों लजा रही ओ कृषक-मेध की रानी?*[10]

वर्तमान समाज में किसान पूंजीपति, महाजन, ठेकेदार और सरकार की नीति से त्रस्त हैं। उन की नीति और अत्याचार से दो वक्त की रोटी, अंग ढकने के लिए चिथड़े, ठंड से बचने के लिए कम्बल और रहने के लिए घर आदि से तरस रहे हैं। धरती पुत्रों को सरकारी योजनाओं के बिना ही सरकारी नीति, साहुकारों, ठेकेदारों, जमींदारों और व्यापारियों के अत्याचारों का मुंहतोड़ जवाब देना होगा।

## संदर्भ


1. भारतीय साहित्य के निर्माता रामधारी सिंह दिनकर, विजेन्द्र नारायण सिंह, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, पृ. 8-9
2. किसानी कविताएं, सम्पादक, डा. मृत्युंजय कोईरी, दिशा इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्रण, 2020, पृ. 15
3. वही, पृ. 44-5
4. वही, पृ.45
5. वही, पृ.45-6
6. वही, पृ. 47
7. वही, पृ.47-8
8. वही, पृ. 52
9. वही, पृ. 35-6
10. वही, पृ.38-9



**डा. मृत्युंजय कोईरी**
राँची, झारखंड

# *जाति का प्रश्न और 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'*

*—डा. विजय पाल*

'सर्वे प्राणी सुखिनाम, सर्वेसंतु निरामया' भारतीय समाज और संस्कृति का यह कूट वाक्य जब 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' पढ़ते हैं तो झूठा सिद्ध होता है। अपने आप को इतिहासकार और समाजशास्त्री कहने वालों के सिर शर्म से झुक जाने चाहिए। रोमिला थापर और निरद चौधरी जैसे इतिहासकार तथ्यों के आधार पर जब यह लिखते हैं कि प्राचीनकाल में हिन्दू गाय का मांस खाते थे, तो सवर्ण हिंदुओं के अंदर एक विरोध का भाव पैदा हो जाता है। इन इतिहासकारों और समाज शास्त्रियों में से किसी ने भी यह नहीं लिखा कि दलित जिंदा रहने के लिए मुर्दा जानवरों का मांस खाने के लिए विवश हैं। इतिहास और समाज के इस तथ्य का उद्घाटन दलित आत्मकथाकार करते हैं। मेरा बचपन मेरे कंधों पर के लेखक लिखते हैं, ''हमारे अलावा डोरी ताऊ का लंबा परिवार मुर्दा मवेशियों का मांस खा कर ही पला था। अमानवीयता की सीमा तक जा कर इस समाज को रहना पड़ा।'' समाजाशास्त्रीय दृष्टिकोण से दलित समाज को मुख्य रूप से पाँच लक्षणों के आधार पर रेखांकित कर परिभाषित किया जा सकता है। ये पाँच लक्षण हैं–

1. सामाजिक संरचना में इस समूह की स्थिति।
2. सामाजिक संरचना में स्थिति के कारण वंचनाओं की बहुलता।
3. सामाजिक संरचना में स्थिति के कारण वंचनाओं की बहुलतता की ऐतिहासिकता।
4. सामाजिक संरचना में स्थिति, वंचनाओं की बहुलता तथा वंचनाओं की बहुलता की ऐतिहासिकता के कारण सामुदायिक अस्मिता का सृजन।
5. सामाजिक संरचना में स्थिति, स्थितिगत वंचनाओं की बहुलता, स्थितिगत वंचनाओं की बहुलतता की ऐतिहासिक आधारों पर विकसित सामुदायिक अस्मिता के आधार पर समेकित चेतना का सृजन जिस के कारण आज प्रांतीय, जातीय, एवं भाषाई दीवारों को तोड़ कर दलित समाज बाबा साहेब डा. भीम राव अंबेडकर को अपना और अपने समाज का नायक मान चुका है।

आत्मकथा में भारतीय जाति व्यवस्था की संरचना और उस की जटिलताओं को लेखक ने उभारा है। भारतीय समाज

में व्याप्त जाति व्यवस्था जिस के कारण समाज का एक बड़ा हिस्सा मानवीय गरिमा और अधिकारों से वंचित रहा है। बाबा साहेब डा. भीम राव अंबेडकर ने जाति व्यवस्था के विषय में लिखा है, ''हिन्दू समाज एक मीनार है और एक-एक जाति इस मीनार का एक-एक तल है। ध्यान देने की बात यह कि इस मीनार में सीढ़ियाँ नहीं हैं। एक तल से दूसरे तल में जाने का कोई मार्ग नहीं है। जो जिस तल में जन्म लेता है, वह उसी तल में मरता है। नीचे के तल का कितना ही लायक हो, उस का ऊपर के तल में प्रवेश संभव नहीं। परंतु ऊपर के तल का मनुष्य चाहे कितना ही नालायक हो, उसे नीचे के तल में धकेल देने की हिम्मत किसी में नहीं।''[2]

यह है भारतीय समाज की संरचना। इस के अतिरिक्त दलित जातियों की भी अपनी एक आंतरिक संरचना है जो हिन्दू धर्म और व्यवस्था द्वारा निर्धारित सिद्धांतों के आधार पर निर्मित हुई है। बाबा साहेब डा. भीम राव अंबेडकर ने इस का विश्लेषण करते हुए लिखा है–''जाति प्रथा के दो पहलू होते हैं अर्थात, एक रूप में वह समाज को विभिन्न समुदायों में बाँटती है, दूसरे रूप में वह विभिन्न समुदायों को जातियों में बाँटती हैं जिस में एक से दूसरी जाति का सामाजिक स्टार ऊंचा या नीचा घोषित किया जाता है। इस व्यवस्था में प्रत्येक जाति इसी बात में संतोष अनुभव करती है कि वह किसी न किसी जाति से ऊंची है।''[3] जिस जाति का सामाजिक दर्जा जितना ऊंचा होगा, उसे उतने ही अधिक और जिस का दर्जा नीचा होगा, उसे उतने ही कम अधिकार प्राप्त होंगे। जातियों की यह ऊंच-नीच कि व्यवस्था उन्हें किसी संयुक्त मोर्चे के रूप में संगठित नहीं होने देती।" इस श्रेष्ठता-क्रम के कारण प्रत्येक जाति अपनी जाति तथा उस के सामाजिक स्तर की रक्षा के प्रति शंकालु रहती है। ऐसी दशा में जाति-प्रथा के प्रति जेहाद में आप सभी हिंदुओं के शामिल होने ही आशा नहीं कर सकते।

आत्मकथा दलित समाज की विभिन्न उप-जातियों में ऊंच-नीच की जो भावना व्याप्त है उस पर प्रकाश डालती है। दलित समाज में व्याप्त तथाकथित उप-जातियाँ जाटव चमार से, चमार भंगी से ऊपर समझने का भ्रम पाले हुए है और आपस में भेदभाव का व्यवहार करते हैं। जाटव और चमार के बीच आपसी भेदभाव का शिकार बालक श्यौराज को होना पड़ा। सौतेले पिता की मार से बचाने के लिए बालक श्यौराज जाटवों के बच्चों के साथ दोस्ती कर लेते हैं और उन के घर में आ कर छिप जाते हैं, क्योंकि जाटवों के थोड़ा ऊंची जाति के समझे जाने के कारण पिता उस में घुस नहीं पाते हैं। बेचैन जी लिखते हैं–लटूरी और बादशा नामक दो भाइयों में लटूरी मेरा हमउम्र लंगोटिया यार था। उस की माँ के पास मैं मार-पीट के डर से प्रायः छिपा रहता था। यह एक जाटव घर था, यानि चमार से कुछ सुपर। इस कारण भिकारीलाल इस में स्वेच्छा से अन्दर नहीं आ सकते थे।''

मेरा बचपन मेरे कंधों पर के लेखक और उस के समुदाय को शिक्षा, स्वतन्त्रता, बंधुत्व, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अनेक वंचनाओं का सामना करना पड़ता है। बालक श्यौराज पढ़ना चाहता है। लेकिन व्यवस्था इस प्रकार की है कि उसे पढ़ने से रोका जाता है। उन का परिवार, माँ-बाप सभी पढ़ने का विरोध करते हैं। उन के पिता किताबों को जला देते हैं। भिकारी ने किताबों पर तेल उड़ेल कर माचिस की तीली दिखा दी। किताबें जल उठीं। इस काम को अंजाम दे कर उस ने संतोष की सांस ली।

कैसी विडम्बना है कि बालक पढ़ना चाहता है और अम्मा पढ़ने से रोकना चाहती है। पूरा वातावरण इस प्रकार का है कि बालक अगर-बिरादरी में अपनी पढ़ाई के विषय में जिस से भी राय लेता था वही उस के खिलाफ खड़ा हो जाता था। पूरी घर-बस्ती में एक भी स्त्री-पुरुष और बच्चा पढ़ाई के पक्ष में नहीं थे। माँ, भाई, बहन भी असहयोग की भाषा बोल रहे थे। इन विपरीत परिस्थितियों में भी श्यौराज सिंह आत्मविश्वास के सहारे, चुनौतिपूर्ण निर्णय की घोषणा कर देते हैं–''मैं पढ़ंगो, एक फेरा कोशिश जरूर करंगो। मैं पढ़ंगो, अपने बलबूते पै।" हजारों सालों से दलित शिक्षित होने के लिए संघर्षरत है। इस संघर्ष के प्रति मानवीय संवेदना और सामाजिक सद्भाव न ि शक्षकों में दिखता है, न शिक्षा शास्त्रीयों में, विचारकों, सामाजिक चिंतकों में। इसलिए दलित लेखकों ने शिक्षा पाने के लिए जितने कष्ट सहे हैं, उन का लेखा-जोखा आत्मकथाओं की मार्फत सामने आया है। श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा का यह पक्ष संघर्ष की इंतेहाँ है।"

अशिक्षा, अज्ञानता, जाति व्यवस्था व छुआछूत के कारण स्वतन्त्रता, समानता और बंधुत्व की भावना से दलित समाज सदियों से वंचित है। दलित जाति का होने के कारण मास्टर जी के साथी शिक्षक भी बालक श्यौराज सिंह से छुआछूत का व्यवहार करते हैं। दलित समाज की मुख्य समस्या गरीबी नहीं अस्पृश्यता है। अस्पृश्यता ही दलित समाज में गरीबी का कारण है। अगर गरीबी ही अस्पृश्यता का कारण होती तो सभी गरीब अछूत होते। अनेक समाजशास्त्री इस बात को अब तक नहीं पकड़ पाए जो मेरा बचपन मेरे कंधों पर में बालक श्यौराज सिंह की माँ

सूरजमुखी कहती हैं–''गरीबी ने देश छुड़ाइदयो मिली होइगी बड़ी जात को आजादी, हमें तो काम करिकेऊ रोटी नांयदई। छुआछूत नांय होती तो मैं कहूं चाय-बीड़ी की दुकान ही खोल लेती।" सवर्ण जाति की स्त्री चमेली की बातचीत से भी इस बात की पुष्टि होती है। वह कहती है–''भैया हम बड़ी जात हैं। हम चमार के संग नाय खाइ सकत। सौराज बेटा! मेहरबानी करिकें मेरौ कछु छुइये मत।"

यही जाति व्यवस्था की त्रासदी है कि एक महिला इसे बेटा कह रही है। उस के लिए मेहरबानी शब्द का इस्तेमाल भी कर रही है और जिस के मन में लेखक के प्रति (चाहे वह चमार का बेटा हो) इज्जत है। वह भी इस बात को स्वीकार करने के किए तैयार नहीं है कि वह उस का समान छुए। यह लेखक के साथ लेखक की स्थिति की भी ट्रेजडी है, जिसे पाठक एक लंबे समय तक अपने जेहन से चाह कर भी निकाल नहीं पायेगा।"

डा. भीम राव अंबेडकर ने 'कांग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिए क्या किया?' नाम से पुस्तक लिख कर जो सवाल कांग्रेस और गाँधी से किया था, वही सवाल लेखक अपनी माँ सूरजमुखी के माध्यम से करते हैं। सूरजमुखी डा. अंबेडकर को नहीं जानती हैं। फिर भी वे अंबेडकरवादी हैं। वे पूछती हैं–''बेटा सौराज तैने किताबें पढ़ी हैं तू जो तो बताइकै जो मर्द इन्दिरा गांधी के राज कू सब औरतनु को राज काहे कू कहत हैं? कोई ईमान-धरम वारो सच्चो इंसान कहूं मिले तो बेटा मैं जरूर पूछूंऊंगी कै मो गरिबिन चमारी कूं इन्दिरा ने कौन सो राज-पाटु दैदओ है भैया?''

यहाँ सूरजमुखी पूरे दलित समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। अस्पृश्यता, अशिक्षा और गरीबी से घिरे दलित समाज की स्थिति भयावह है। अपनी सारी बीमारी और दुखों का इलाज भूतों-पिशाचों मे ही ढूंढ़ता है। भूत-पिशाचों के चक्कर में ही लेखक के पिता की असामयिक मृत्यु हुई।

मेरा बचपन मेरे कंधों पर दलित समाज का और व्यापक संदर्भों में भारतीय समाज का एक्स रे करती है।

**डा. विजय पाल**
दयाल सिंह कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

# *दलित कहानियों में अस्पृश्यता*

*–उपदीप कौर*

हजारों वर्षों से अंधेरे में जीवनयापन करने वाले निम्न वर्ग लंबे समय से शिक्षा से अछूता रहा है। उन के जीवन में हुई प्रगति, उन की मेहनत, संघर्ष, उन के साथ हुआ अमानवीय व्यवहार ये सब उन के अनुभव की थाती हैं। उन के इसी अनुभव से उन की अपनी विचारधारा निर्मित है। इन सब के बारे में दलित साहित्य से इतर किसी पुस्तक या साहित्य में पढ़ना मुश्किल है। निम्न वर्ग की उन्नति से ही सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक उन्नति संभव है। इन सब को साथ ले कर चलने से ही दुनिया में समानता और भाई-चारे पर आधारित न्यायपूर्ण व्यवस्था का सपना साकार हो सकता है। सुशीला टाकभोरे की कहानी 'संघर्ष' में शंकर चौदह साल का लड़का है। वह थोड़ा शरारती है, इस कारण लोग उसे डांटते हुए जातिसूचक शब्दों का प्रयोग करते हैं। उसे अपमानित करते हैं और मारते पीटते हैं। शंकर को रोता देख उस के पिता दुखी मन से कहते हैं–"बच्चा है, बच्चे धूमा करते ही हैं। मगर लोगों को हमारा बच्चा ही बुरा लगता है। न जाने लोग हमारे पीछे ही क्यों पड़े रहते है? जहाँ देखो, जात-पात की बात कर के हमें नीचा दिखाते रहते हैं। जैसे हमारी कोई इज्जत ही नहीं?"[1]

भारतीय समाज में आदर सम्मान जाति के आधार पर ही मिलता है। रमेश उपाध्याय लिखते हैं–"भारत में कोई ब्राह्मण, जो दलितों को अछूत मानता है, किसी दलित से हाथ नहीं मिलायेगा। कोई दलित अपने गुणों या उपलब्धियों के कारण निचली श्रेणी से ऊपर की श्रेणी में आ जाये और दलितों को अछूत मानने वाला ब्राह्मण उन गुणों और उपलब्धियों से रहित हो, तो वह उस दलित को नीची निगाह से ही देखेगा। यानी, भारत में एक अशिक्षित और निर्धन ब्राह्मण का भी मानवाधिकार एक सुशिक्षित और धनी दलित के मानाधिकार से अधिक है और यहाँ की जाति-व्यवस्था में दलितों के न्यूनतम मानवाधिकार के लिए भी कोई जगह नहीं है। निश्चय ही ऐसी व्यवस्था वाले समाज को सभ्य और सम्यक् समाज नहीं कहा जा सकता।"[2] कहानी 'ओल्डएज होम' में मौजी राम व उस की पत्नी सीता को उन का इकलौता पुत्र तेजगुलाम आश्रम में छोड़ आता है। हर महीने वह अपने माता-पिता से मिलने आता है। आश्रम पर जब तेजगुलाम के माता-पिता की जाति का पता चलता है तो उन्हें अपमानित होना पड़ता है। आश्रम व्यवस्था में जाति के विषय में बात करते हुए उसे रचनाकार लिखते हैं–"हम जाति में यकीन नहीं करते। सब से ज्यादा जाति उन्हीं को जाननी है। एस. सी. तो तुम हो

पर उस में भी आप की जाति कौन सी है? आप कहीं चमार-भंगी, माँग, महार तो नहीं हैं। पासी, खटिक, दुसाध आदि तक तो थोड़ा बहुत चलेगा। चमार बिल्कुल नहीं।"[3] तेजगुलाम के माता-पिता को डायरी लिखने की आदत है। वह अपने जीवन की प्रत्येक घटना को डायरी में लिखते थे। तेज गुलाम को अपने माता-पिता की डायरी पढ़ कर पता चलता है कि उन्हें किस प्रकार प्रतिदिन जाति के नाम पर अपमानित होना पड़ता है।

भगवानदास अपने जातिगत अपमान को ले कर अपने अनुभव व्यक्त करते हुए कहते हैं–''यह मैं अपने अनुभव के आधार पर बताता हूं। जब मैं कहीं बाहर जाता हूं तो मुझे इस बात का बड़ा गर्व होता है कि मैं एक भारतीय हूं, बावजूद इस के कि मैं एक अछूत समुदाय में पैदा हुआ हूं और मैंने बड़े अपमान सहे हैं।''[4] समाज भी निम्न वर्ग पर यह समस्या जातिगत व्यवस्था के कारण बनी हुई है। समाज में ऊंच-नीच घृणा, नफरत, अन्याय, शोषण, उत्पीड़न और छुआछूत यह सब जाति प्रथा के कारण फैली हुई है जिस से निम्न वर्ग को न्याय नहीं मिलता। "दलित का सामान्य अर्थ होता है–दबा या दबाया हुआ, कुचला हुआ। इस में अभाव, कमजोरी, विपत्ति की नियति और हीनता का भाव झलकता है। दलित अर्थात् जो सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से कमजोर हो, तो उसे कुचला जा सकता है। आज भी कमजोर वही होता है जिस के पास जीविकोपार्जन के साधन नहीं होते। कृषि, उद्योग, व्यापार, नौकरी से वंचित। परन्तु, इन अभावों के होते हुए भी यदि जाति, धर्म, वर्ण का बल है तो ऐसा व्यक्ति दलित नहीं होता।"[5]

इक्कीसवीं सदी में ऐसे अनेक विषयों का प्रस्तुतीकरण हुआ है जहाँ दलितों ने अत्याचार, अन्याय तथा अपमान की जंजीरों को तोड़ कर अपने समय को सशक्त बनाया है। सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक और राजनीतिक इत्यादि सभी क्षेत्रों में दलित समाज ने उन्नति की है पर अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है। कंवल भारती का मानना है कि दलित कहानी का उद्देश्य समाज की सोच में परिवर्तन लाना है। उन के अनुसार–"दलित कहानी का मुख्य प्रतिमान सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक न्याय है और सामाजिक समता का सिद्धांत है। दलित कहानीकार डा. अम्बेडकर के सामाजिक क्रान्ति को अभिव्यक्ति देते हैं जिस का उद्देश्य है समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व के मूल्यों का निर्माण करना और व्यवस्था को बदलना है।"[6]

वर्तमान हिंदी कहानी में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ दलित शिक्षा तथा रोजगार के माध्यम से सशक्तीकरण की ओर अग्रसर हैं। वर्तमान समय में दलित वर्ग प्रत्येक क्षेत्र में सशक्त हो कर अपने जीवन में परिवर्तन ला रहे हैं। समाज में दलित वर्ग छुआछूत से ले कर अपने प्रति हुए अन्याय को सहन न कर के उस का विरोध करता है। सुशीला टाकभोरे की कहानी 'संघर्ष' में शंकर की नानी को सवर्ण समाज द्वारा जूठा भोजन दिया जाता है। शंकर को यह भेदभाव सहन नहीं होता और सवर्ण जाति के प्रति विरोध व्यक्त करते हुए पूछता है–"तुम लोग क्यों मेरी नानी को बुलाते हो? मेरी नानी को बुला कर जूठन क्यों देते हो? तुम खुद चाहते हो कि मेरी नानी यह लेती रहे और हम तुम्हारा जूठा खाते रहें। मेरी नानी को अब किसी ने बुलाया तो देख लेना, मैं तुम सब की पिटाई करूंगा"[7] शंकर अपनी नानी को भी कहता है कि वह गाँव वालों का जूठन खाना अपने घर क्यों लाती है? शंकर' गुस्से में जूठन खाने को घर के बाहर आंगन में फेंक देता है तब उस भोजन को कुत्ता खाने लगता है। शंकर चीख कर कहता है–"हम भी ऐसे कुत्ते हैं क्या?"[8]

एस. आर. हरनोट की कहानी 'सवर्ण देवता दलित देवता' में कहानी का पात्र अपने पिता के कहने पर लीलाधर शर्मा के घर देवता आने के कारण भेज दिया गया ताकि वहाँ पर वह देवता की सेवा कर सके। परंतु, वहाँ पर उस के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार किया गया। कहानी का पात्र रात को सर्दी बढ़ जाने के कारण पुजारी पर डाली गई दोनों में से एक रजाई खींच लेता है तो पुजारी उस पर चिल्ला कर कहता है कि उस ने मेरी रजाई को छू कर अपवित्र कर दिया है और उसे गालियाँ दे कर अपमानित करता है। देवता का एक पंच पंडित नारायणू थप्पड़ मारने के लिए आगे आता है तो वह उसे धक्का दे कर गिरा देता है और विरोध करते हुए कहता है–"पंडत! जितनी गालियाँ तुम ने मेरे को दी, वह तो मैंने सहन कर ली। लेकिन मेरी एक बात का जवाब तू दे दे। तू ही क्यों, देवता के साथ जो ये पुजारी और पंच आए हैं, इन से भी मैं पूछता हूं कि क्या ठंड ब्राह्मणों और कनैतों को ही लगती है या कि कौली-चमारों को भी? खुद तो तुम दो-दो रजाईयाँ ले कर खर्राटे मारने लग गए और हम लोगों को बैठने के लिए पूरा पराल भी नहीं।"[9]

समाज की जाति व्यवस्था में अस्पृश्यता एक घिनौना रूप है। निम्न जाति के लोग उच्च जाति के लोगों की किसी वस्तु को छू लें तो वह अपवित्र हो जाती है। लेकिन जब वे उन पर अत्याचार करते हैं, तब वे अपवित्र नहीं होते? सूरजपाल चौहान की कहानी 'मंगल पांडे का लोटा' में मंगल पांडे के लोटे को मातादीन जो निम्न जाति से

संबंध रखता है, के द्वारा स्पर्श कर देने पर वह आक्रोश में आ जाता है। मातादीन इस भेदभाव का विरोध करते हुए कहता है–"पण्डत, तेरी पण्डताई उस समय कहाँ चली जाती है जब तू और दूसरे ब्राह्मण सिपाही गाय और सूअर की चर्बी से बने कारतूसों को मुंह में डाल कर उन की परतें खोल कर बन्दूक में भरते हो।"[10] रतनकुमार सांभरिया की कहानी 'मुक्ति' में भी अस्पृश्यता के कारण हुए अन्याय का विरोध होता है। कहानी में गाँव का महंत नानकराम को मंदिर की मूर्ति छूने से मना कर देता है और कहता है कि उस के छूने से मूर्ति अपवित्र हो जायेगी। नानकराम अपने प्रति अन्याय व अपमान को सहन नहीं कर पाया और भागते हुए गुस्से में महंत पर तलवार लहरा देता है–"तेरी तो। महंत और मौत! मौत और महंत!! महंत और मौत !!"[11]

दयानंद बटोही की कहानी 'भूल में गोबर पांडे' अपने उच्च जाति के घमंड में निम्न जाति के लोगों का अपमान करता है परंतु कहानी में निम्न जाति का रमेश और गोबर पांडे की बेटी पारो अन्याय के खिलाफ आवाज उठाती है और न्याय प्राप्त करता है। अस्पृश्यता की जड़ें मिटाने के बाद गोबर पांडे कहता है–"बैठो-बैठो भाई बुदधू। बेटा रमेश इधर आ बेटा। तुम लोगों ने मेरी आंखें खौल दी। भाई मेरी सब भूल थी। माफ कर दो। तब मैं नहीं समझा था। तुम सब गाँव के लिए आदर्श हो। बेटी पारो अब तो बैठ? हाँ भाई पानी पिला दो अपने हाथ से। अब तो मेरा पाप तुम्हीं के द्वारा कटेगा।" गोबर पांडे आगे कहता है–"नहीं-नहीं यह हम सब की भूल थी जो अलग किये हुए बैठे थे। हम सब में एक ही रक्त। एक ही सब कुछ फिर यह ढोंग ही तो है। लाओ पानी।"[12]

वर्तमान समय में दलित समाज शिक्षा के माध्यम से सशक्तीकरण की ओर अग्रसर है। दलित जाति निम्न कार्य या मैला ढोने के कार्य न करने के प्रति जागरूक है। वे अपनी स्थिति में परिवर्तन ला रहे हैं। रतन कुमार संभरिया की कहानी 'विपर सुदर एक कीने' में भी दलित वर्ग अपने प्रति होने वाले जुल्म व अपमान के प्रति आवाज उठाते हैं और इस का विरोध करते हैं। कहानी में चौपाल पर निम्न जाति की पंचायत बैठती है। पंचायत में एक सतर वर्षीय बूढ़ा अपनी ऊंची आवाज में अपनी जाति के कार्य के प्रति सशक्त हो कर कहता है–"मेरे जात भाईयो सुनो, अपन जब तक यो धंधों करांगा। बदनामी खड़ी रहेगी। सिर ना उठा पावांगा। यो गंदो धंधो छोड़ो, मान सम्मान से सिर ऊंचो कर के जीओ। सौ को तोड़ यो है। अपनो रेजा कपड़ा बुनना या चेजा मकान बनाना को काम पकड़ लो। मिल मजूरी कर पेट भर लो, खेत क्यार कर लो। पर चमड़ा वाला काम से निजात पा लो। बड़ी जात हम से नाक भौ चढ़ावे। नीड़े नजदीक ना बैठन दे। बड़ा कह गया है, आबरू से एक दिन जीनो अच्छो, बेआबरू हजार दिन बुरा।"[13]

आज दलितों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आई है। वे अपने साथ होने वाले अन्याय का विरोध करते हैं एवं न्याय के प्रति सहज है। समाज में बदलाव होने के साथ-साथ दलित अपने समाज में भी बदलाव लाना चाहते हैं। सूरजपाल चौहान की कहानी 'बदबू' में संतोष अत्यंत मेधावी एवं आधुनिक विचारों वाली लड़की है। कहानी में संतोष पढ़ी लिखी होने के बावजूद, उस के पिता उसकी शादी नौवीं फेल 'राजिन्द्र' से करवा देते हैं। ससुराल में संतोष को मैला ढोने का काम करने को कहा जाता है, परन्तु पढ़ी-लिखी व जागरूक होने के कारण संतोष यह काम करने को मना कर देती है और कहती है–"चाहे मेरी जान चली जाए पर मैं यह गन्दा काम हरगिज नहीं करूंगी।"[14]

## संदर्भ


1. सुशीला टाकभौरे, संघर्ष, पृ. 8
2. रमेश उपाध्याय, उत्पीड़ितों का मानाधिकार, पृ. 12
3. श्योराज सिंह बेचैन, भरोसे की बहन, पृ. 29
4. रमेश उपाध्याय, उत्पीड़ितों का मानाधिकार, पृ. 44
5. जियालाल आर्य, दलित समाज की चुनौतियां, पृ.2
6. कंवल भारती, दलित साहित्य की अवधारणा, पृ. 105
7. सुशीला टाकभौरे, संघर्ष, पृ. 12
8. सुशीला टाकभौरे, संघर्ष, पृ. 13
9. एस. आर. हरनोट, जीनकाठी तथा अन्य कहानियाँ, पृ.70
10. सूरजपाल चौहान, नया ब्राह्मण, पृ. 118
11. रत्न कुमार सांभरिया, खेत तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 66
12. दयानंद बटोही, सुरंग, पृ. 55
13. रत्न कुमार सांभरिया, खेत तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 93
14. सूरजपाल चौहान, नया ब्राह्मण, पृ. 19



**उपदीप कौर**
सिरसा, हरियाणा

# भारतीय साहित्य परम्परा और अनुवाद

—कुमार रितेश रंजन

भारत एक बहु-सांस्कृतिक देश होने के साथ-साथ एक बहुभाषी राष्ट्र भी है। अतः अनुवाद की परम्परा का होना तो स्वाभाविक है। वर्तमान युग में अनुवाद का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण ही इसे अध्ययन और अध्यापन की एक महत्वपूर्ण शाखा के रूप पहचान मिली है। पाश्चात्य में अनुवाद की आरंभ से ही एक लम्बी और सदृढ़ परंपरा रही है। किन्तु भारत भी अनुवाद की परम्परा से अनभिज्ञ नहीं है। इस की भी अनुवाद की अपनी एक लम्बी परम्परा रही है जिस का विकसित रूप हमें आज हर क्षेत्र में देखने को मिलता है। हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों से ले कर शास्त्रों और लौकिक, वैदिक साहित्य पर भी अनुवाद की परंपरा का निर्वहन करने का दायित्व देखा जा सकता है।

अनुवाद शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में भोलानाथ तिवारी लिखते हैं, ''शब्दार्थ चिंतामणि कोश में अनुवाद का अर्थ 'प्राप्तस्य पुनः कथने या 'ज्ञातार्थस्य प्रतिपादने' अर्थात पहले कहे गये अर्थ को फिर से कहना आदि दिया गया है। प्राचीन भारत में शिक्षा की मौलिक परम्परा थी। गुरु जो कहते थे शिष्य उसे दुहराते थे। इस दुहराने को भी अनुवाद या अनुवचन कहते थे।'' प्राचीन परम्परा के अनुसार अनुवाद की तीन प्रणालियाँ देखने को मिलती हैं—अंतःभाषिक अनुवाद, अंतरभाषिक अनुवाद, अंतःप्रतीकात्मक अनुवाद। तीनों प्रणालियों में अनुवाद की लम्बी परम्परा रही है। लौकिक संस्कृत में तो अनुवाद की तीनों प्रणालियों का प्रचलन था। जो आचार्य संस्कृत काव्य का काव्योच्चारण करते थे, वे उस काव्य का गद्य के रूप में विश्लेषण करते थे। चूंकि, इस प्रक्रिया में एक ही भाषा में एक विधा को दूसरी विधा में अनूदित किया जाता था, अतः इस प्रक्रिया को अंतःभाषिक प्रक्रिया की श्रेणी में रखा जाता था। इसी प्रकार लौकिक संस्कृत में अंतरभाषिक अनुवाद के रूप में नाटकों को उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। अंतरभाषिक अनुवाद उस प्रक्रिया को कहते हैं जिस के अंतर्गत एक भाषा की सामग्री या कथा को किसी दूसरी भाषा में प्रस्तुत किया जाता है। उदहारण के रूप में हम देखते हैं कि संस्कृत नाटकों में स्त्री और पुरुष दोनों पात्रों की भाषा अलग-अलग हुआ करती थी। स्त्री पात्र द्वारा प्राकृत भाषा का व्यवहार किया जाता था तथा पुरुष अपने संवाद संस्कृत में बोलते थे। इस के पीछे कुछ कारण भी हो सकते हैं जो इस प्रकार के भाषा-भेद का कारण बनते थे, जैसे—लिंग-भेद, विद्वता तथा पात्रों की सामाजिक स्थिति आदि। नाटक में स्त्री पात्र द्वारा बोले गए संवादों का (चाहे वे गद्य के रूप में हों अथवा पद्य रूप में) संस्कृत रूप भी साथ के साथ

प्रस्तुत किया जाता था, इस प्रक्रिया को 'छाया' नाम से जाना जाता था। अनुवाद के तीसरे प्रकार अर्थात् अंतःप्रतीकात्मक अनुवाद के रूप में काव्य के किसी अंश पर रचे गए नाटकों को देखा जा सकता है, जैसे–महाभारत में शकुंतला की कथा, ब्राह्मण ग्रंथों में उर्वशी-पुरुरवा की कथा आदि का नाटक रूप में रूपांतरण या प्रस्तुतीकरण किया गया। इस प्रकार धीरे-धीरे उत्तरोत्तर युग में संस्कृत से तत्कालीन देशज भाषओं में अनुवाद का प्रचलन बढ़ने लगा जैसे संस्कृत से पालि में, पालि का प्राकृत में तथा प्राकृत का अपभ्रंश एवं हिन्दी में अनुवाद धीरे-धीरे गति प्राप्त करता गया। इन सब भाषाओं में अनुवाद की प्रक्रिया सब से अधिक संस्कृत से प्राकृत में फलीभूत हुई, जैसे–''संस्कृत की 'वाल्मीकि रामायण', 'मेघदूत', 'शाकुंतल' आदि अनेक रचनाओं की कुछ पंक्तियों या छंदों के छायानुवाद 'महावीर-चरिउ', 'पऊम-चरिउ', 'भविसयत्त कहा', 'सुदंसण चरिउ' आदि प्राकृत-अपभ्रंश की कृतियों में मिल जाते हैं।'' संस्कृत के 'आर्यासप्तशती' तथा 'अमरुशतक' तथा हिन्दी के बिहारी आदि कई कवियों के छंदों का भी पूर्णतः या आंशिक रूप से अनुवाद अथवा छायानुवाद देखने को मिलता है।

संस्कृत एक ऐसी भाषा थी जिसे देववाणी माना जाता था। इस का एक विशाल वाङ्मय था जिस का प्राकृत, अपभ्रंश तथा देश की अन्य कई भाषाओं में अनुवाद किया जाता था। केवल देशज ही नहीं बल्कि मुगल काल के फारसी ज्ञाता भी संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत में रचित अन्य ग्रंथों का अनुवाद बड़ी सहजता से फारसी में किया करते थे। कई मुगल शासकों ने भी संस्कृत ग्रंथों का अरबी-फारसी में अनुवाद कराया, जैसे–दाराशिकोह ने फारसी के विद्वानों द्वारा उपनिषदों का अनुवाद फारसी भाषा में कराया था। संस्कृत भाषा के सब से नजदीकी भाषा के रूप में दक्षिण भारतीय भाषाओं को माना जाता है। तमिल भाषा में संस्कृत की 'रामायण' के आधार पर 'कबरामायण', 'महाभारत' के आधार पर 'विल्लिप्पुत्तूंरार' का 'महाभारतम' आदि रचे गये। जैन ग्रंथों के आधार पर जीवक चिंतामणि काव्य लिखा गया जो कि पाँच महाकाव्यों के अन्यतम है। आधुनिक काल में भी संस्कृत से हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, जर्मन, कन्नड़, गुजराती और तमिल आदि अनेक भाषाओं में काफी अनुवाद हुए हैं। जैसे–संस्कृत के पंचतंत्र का अनुवाद फारसी-अरबी के प्राचीन साहित्य में 'कलेला दमन' नाम से जाना जाता है।

हिन्दी में ग्रंथों आदि के व्यवस्थित अनुवादों की परम्परा 16वीं सदी से 18वीं के मध्य तक मुख्यतः धर्म (हिन्दू, जैन, बौद्ध, इस्लाम), वैद्यक, ज्योतिष, कोश, साहित्य, कोकशास्त्र, व्याकरण तथा नीति से सम्बद्ध ग्रंथों के अनुवाद हुए हैं। सिद्ध कवियों द्वारा लिखित रचनाओं का अनुवाद उन की मूल भाषा मगही से भोटिया में हुआ था। भुवाल कवि ने दोहा-चौपाई में भगवद्गीता का अनुवाद किया। हिन्दी साहित्य के 'मध्यकाल' में अनुवाद का कार्य पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है। 'पद्मावत' की मूल प्रतियाँ फारसी में थीं, जिन का अनुवाद बनारस के पंडित रामलखन ने देवनागरी लिपि में कराया। जायसी के इस कालजयी रचना का अनुवाद बांग्ला भाषा में भी हुआ है। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' नामक एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की जो भारतीय समाज का आदर्श बन गया। तुलसीदास की इस रचना के सम्बन्ध में भी विद्वानों का मानना है कि ''तुलसीदास ने 'मानस' और 'वैराग्य संदीपिनी' आदि ग्रंथों में संस्कृति के ऐसे श्लोकों का दोहा-चौपाई में अनुवाद किया है, जो प्राचीन भारतीय आदर्शों को प्रतिपादित करते हैं। केशवदास कृत 'रामचंद्रिका' भी वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखी गयी है। इस रचना में कई स्थल पर अन्य संस्कृत ग्रंथों के प्रसंगों के भावों का भी अनुवाद किया गया है जिस के उदहारण के रूप में 'प्रसन्न राघव', 'हनुमन्नाटक', 'अनर्घराघव' आदि के बहुत से स्थलों का अनुवाद 'रामचंद्रिका' में देखने को मिलता है।

महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर ने भी 'भगवद्गीता' का अनुवाद मराठी में 'ज्ञानश्वरी गीता' के नाम से किया है। मध्यकाल में अनुवाद परम्परा का खूब निर्वहन किया गया जिस के उदहारण के रूप में उपर्युक्त अनूदित साहित्यों के विवरण को देखा जा सकता है। साहित्य की दृष्टि से 19वीं सदी के उत्तरार्ध से हिन्दी साहित्य में अनुवाद की और भी समृद्ध परम्परा का प्रारम्भ हुआ जो दिन-प्रतिदिन विकास के क्रम में समृद्ध होती जा रही है। हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के निर्माता भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कई पुस्तकों का अनुवाद किया, जैसे–मुद्राराक्षस, चन्द्रावली, कर्पूरमंजरी आदि नाटकों का। इस के अतिरिक्त 'दुर्लभ बंधू' नाम से अंग्रेजी के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' का अनुवाद भी किया उन्होंने। आधुनिक काल के कई रचनाकारों ने अंग्रेजी की रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद किया–जैसे, श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का 'एकांतवासी योगी' नाम से अनुवाद किया। रामचंद्र शुक्ल ने अंग्रेजी के 'लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद 'बुद्धचरित' नाम से किया। भारतीय भाषाओं में सब से अधिक अनुवाद बंगला भाषा से ही हुआ है। रवीन्द्रनाथ टैगोर कृत 'गीतांजलि' का अनुवाद सब से

अधिक हुआ है।

उपर्युक्त विवरण तो भारतीय साहित्य परंपरा में अनुवाद के इतिहास का हुआ है। अब यदि अनुवाद के वर्तमान स्वरूप एवं स्थिति पर विचार किया जाये तो देखा जा सकता है कि भारतीय अनुवाद की परम्परा जिस गति से प्रारम्भ हुई उस का विकास निरन्तर बढ़ता जा रहा है। आज के युग में अनुवाद की महत्ता लगभग सभी क्षेत्रों में अनिवार्य मानी जा रही है। अनुवाद की जो परम्परा 'पुनःकथन' के रूप में थी वह आज के 'ट्रांसलेशन' तक आते-आते अपने स्वरूप और अर्थ में बदलाव के साथ ही अपने बहुआयामी प्रयोजन को भी सिद्ध कर चुकी है। अनुवाद की जिस परम्परा का स्वरूप प्राचीन काल में 'स्वांतः सुखाय' हेतु चली थी आज वह एक सुनियोजित व्यवसाय तथा अध्ययन का मुख्य आधार बन चुकी है।

हालाँकि, भारत में अनुवाद का इतिहास तथा इस की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है, तथापि इस के स्वरूप में आज जितना विस्तार आया है वह पहले नहीं था। आज के युग में अनुवाद एक अनिवार्य प्रक्रिया बन चुकी है। किसी खास रचना की प्रसिद्धि में भी अनुवाद की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्यिक अनुवादों के सम्बन्ध में कई प्रकार की आलोचनाएं भी की हैं जिन के सम्बन्ध में डा. गार्गी गुप्ता का कहना है, ''साहित्यिक कृतियों के अनुवादों को, विशेष रूप से कव्यानुवादों को, कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने उबली हुई स्ट्रोबेरी के सामान स्वादहीन, पाप, विवेकहीन और असंगत विचार, छपे हुए कपड़े की उलटी तरफ आदि कह कर उसे निम्न स्तर का कार्य बताया है, परन्तु ये लोग भूल जाते हैं कि अनुवादक की एक महत्वपूर्ण भूमिका यह भी है कि जिन रचनाकारों का नाम कई बार उन के देशवासी तक नहीं जानते, उन्हें भी वह विश्व साहित्य के रंगमंच पर स्मरणीय बना देता है।''

अनुवाद की वर्तमान स्थिति यह है कि आज अनुवाद न केवल किसी एक क्षेत्र में सीमित है बल्कि इस ने एक विस्तार रूप ग्रहण कर लिया है। अनुवाद की प्रक्रिया का विस्तार मशीनी अनुवाद के रूप में देखा जा सकता है। मशीन की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए भाषा के भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रारूप तैयार किए गये हैं और विशेष कर प्रौद्योगिकीय पाठों के अनुवाद में कम्प्यूटर की मदद ली जाती है। आज भारतीय साहित्य में अनुवाद की जो स्थिति है उस का अनुमान हम इसी के द्वारा लगा सकते हैं कि विश्व के लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं से भारतीय भाषाओं में तथा भारतीय भाषाओं से विदेशी भाषाओं में अनुवाद का एक अच्छा-खासा तालमेल देखने को मिलता है। इस प्रकार देखा जा सकता है कि भारतीय साहित्य के परम्परा में अनुवाद का इतिहास बहुत पुराना तथा विस्तृत रहा है। हालाँकि, अनुवाद के प्राचीन स्वरूप और वर्तमान स्वरूप में काफी बदलाव नजर आता है फिर भी यह तो स्पष्ट है कि अनुवाद का वर्तमान स्वरूप तथा स्थिति अनुवाद के प्राचीन इतिहास की ही देन है। आज अनुवाद केवल साहित्य, धर्म तथा दर्शन मात्र का विषय न रह कर ज्ञान- विज्ञान, व्यवसाय तथा शिक्षा आदि का भी महत्वपूर्ण आधार बन गया है। साहित्य के क्षेत्र में भी अनुवाद की परम्परा का खूब विकास हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में अनुवाद का कार्य विधिवत् रूप से प्रारम्भ हुआ। प्राचीन काल में तो अनुवाद के रूपांतर या टीका जैसे भेदों का अधिक उपयोग हुआ है।

## सन्दर्भ


1. अनुवाद विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 9
2. वही, पृ. 178
3. अनुवाद कला, डा. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 149
4. अनुवाद प्रक्रिया एवं परिदृश्य, डा. रीता रानी पालीवाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
5. अनुवाद कला : सिद्धांत और प्रयोग, डा. कैलाश चन्द्र भाटिया, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
6. व्यवहारिक अनुवाद कला, रमेश चन्द्र, नीलकंठ प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. भारतीय भाषाओं से हिन्दी अनुवाद की समस्याएँ, भोलानाथ तिवारी, किरण बाला, शब्दकार प्रकाशन, तुर्कमान गेट, दिल्ली-110 006



**कुमार रितेश रंजन**
पीएच.डी. शोधार्थी
हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

# कविताएं

## कायर

कायर भेड़ियों का झुंड
पीछे से टूट पड़ा
सैकड़ों हाथ उठे
मुट्ठियाँ भी भिंची
गुर्राए, लहराए उन्मादी चिथड़े
लगाए आतंकी नारे
मगर..
शेरनी
एक अकेली
भरी हुंकार
लहराया पंजा
थर्राया कायर
भीड़ थर्राई
बस
लगाते रहे उन्मादी नारे
खो गए अंधेरी गलियों में!!

## हौसले की उड़ान

उड़ना चाहता था
नीले आसमान में
गगन की छाँव में
बातें करना चाहता था
चाँद और तारों से
सूरज के अंगारों से
देखना चाहता था
पाप-पुण्य के हथियारों को
स्वर्ग नरक के गलियारों को
सुनना चाहता था
झरनों के संगीत को
कोयल की कूक को
समझना चाहता था
ब्रम्हा के मुख को
मनु के सुख को...
हो न सका !
काट दिए पंख
काट दिए गर्दन
काट दिए अगूंठे
छीन ली जमीन
आसमान और सूरज....
नदी, पहाड़ और झरने...
फिर भी हौसला नहीं हारे
लड़ते-भिड़ते
संघर्ष करते रहे
आजीवक, अशोक, नंद नाग.. बने
कबीर, रविदास..ने ललकारा
फुले, पेरियार, अम्बेडकर ने पुकारा
मिला संविधान, मिली शिक्षा की मशाल
मिला नीला आसमान
उड़ो! हौसले की उड़ान ।

## संघर्ष

संघर्ष
संघर्ष
चला आ रहा है
सदियों से
प्रकृति-अप्रकृति
जंगल-जानवर
बाहरी-भीतरी
सुर-असुर
दास-सुदास
वेद-अवेद
देव-अदेव
वर्ण-अवर्ण
आस्तिक-नास्तिक
छूत-अछूत
सम्मान -आत्मसम्मान
स्मृति-विस्मृति
धर्म-अधर्म
राजा-रंक
जमीदार-किसान
दावेदार-शर्मायेदार
हिन्दू-मुस्लिम
राम-रहीम
काशी-काबा
हिंसा-अहिंसा
धर्म-विज्ञान
तर्क-कुतर्क
रामराज-जंगलराज
ब्राह्मण-बुद्ध
गांधी-अम्बेडकर

स्त्री-पुरुष
अमीर-गरीब
मालिक-मजदूर
न्याय-अन्याय
पक्ष-विपक्ष
स्मृति-संविधान
.....
जारी रहेगा
रहेगा जारी..
संघर्ष !

## मध्यम वर्ग

जो कल था
वह आज नहीं है
और जो आज है
वह कल नहीं होगा!
क्रांतियां हुईं,
अब शायद नहीं होंगी?
गाड़ियों में बैठ
रोटी मिलने लगी,
साइकिल रिक्शे से दूरी बढ़ने लगी
मजदूरों की मजदूरी खटकने लगी
वातानुकूलित ड्राइंग रूम में बैठ
मोबाइल पर तख्त पलटने लगे
सहूलियतों के लिए बजट देखते रहे!
क्या मिला? क्या महंगा हुआ?
भविष्य की चिंता में गोते लगाते रहे
साल निकल गया, गप्पे लड़ाते रहे!

## अब जाति कहाँ?

जाति है कि जाती नहीं
बुद्धिजीवी हों या गंवई
लोग अक्सर बोलते हैं
अब जाति कहाँ
लेकिन
मेरे पहुंचने से पहले
हर जगह
पहुंच जाती है जाति
बस्ती से निकल
स्कूल में
कानाफूसी होने लगती है
गाँव नहीं फला बस्ती का है
शिक्षक के व्यवहार में
लगती है दिखने
बात बात में सुनायी देती है गर्जना
जाति के मुहावरे
छात्रों के व्यवहार बदल जाते हैं
अबोधों को बोध हो जाता है
बन जाते हैं ज्ञानी
जाति का कैसे?
सोच कर आज भी
हैरान और आवाक हूं!
फिर क्या कालेज-विश्वविद्यालय
दफ्तर हो या खेल का मैदान
श्मशान भी नहीं हैं अछूते
और कहते हैं
अब जाति कहाँ है?
देखें हैं शिक्षा के मार्क्सवादी गढ़
देखी है प्रगतिशीलता
आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता
शर्मा, मिश्रा, तिवारी और पांडेय
पर होता है जोर
और कहतें हैं, कास्ट इज नो मोर
हम से आज भी पूछते हैं
नाम के आगे
पता लगते ही गढ़ लेते हैं मेरिट
कर देते हैं नाट फाउंड सूटेबल
इतना ही नहीं
स्वघोषित विश्वगुरु की देखिए हद
भीम बने भीमटा
फुले-अंबेडकर-पेरियार
क्या कहें
जाति बन गयी बुद्ध और बिरसा
और कहते हैं
जाति कहाँ है?
लेकिन! लेकिन
गर्व है, गौरवान्वित हूं
अपने श्रमसाध्य, समता मूलक
मानवीय समाज पर
फख्र है फुले, पेरियार, अम्बेडकरवादी
बिरसा होने पर
पड़ता नहीं फर्क अब
जाति के इस मुहावरे से
जाति कहाँ है?

**–प्रो. सुजीत कुमार**

**RNI NO. : DELHIN/2008/27588**
**An International Peer Reviewed Journal**
**Website : www.bahurinahiawana.in**

सन्तो, सो निज देश हमारा।
जहां जाय फिर हंस न आवे, भव सागर की धारा ॥
सूर्य चन्द्र नहिं तहां प्रकासत, नहिं नभ मण्डल तारा।
उदय न अस्त दिवस नहिं रजनी, बिना ज्योति उजियारा ॥
पांच तत्व गुण तीन तहां नहिं, नहिं तहं सृष्टि पसारा।
तहां न मायाकृत प्रपंच यह, लोक कुटुम परिवारा ॥
क्षुधा तृषा नहिं सीत उष्ण तहां, सुख दुख का संचारा।
आधि न व्याधि कछू तहां, पाप पुण्य विस्तारा ॥
ऊंच नीच कुल की मर्यादा, आश्रम वर्न बिचारा।
धर्म अधर्म तहां कछु नाहीं, संयम नियम अचारा ॥
अति अभिराम धाम सर्वापरि, सोभा जासु अपारा ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, तीन लोक से न्यारा।।[1]

1. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2017, पृष्ठ संख्या 402, पद संख्या 84